राजनीति रत्नाकर

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१९६

विद्वद्वरश्रीचण्डेश्वरविरचितः

राजनीतिरत्नाकरः

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारौ
श्री वाचस्पति गैरोला एवं पं० तारिणीश झा

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७०

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२६

मूल्य :

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

196

RĀJANĪTIRATNĀKARA

OF

ŚRĪ CAṆḌEŚVARA

Edited with

The 'Prakāśa' Hindī Commentary

By

VĀCHASPATI GAIROLĀ

AND

Pt. TĀRIṆĪŚA JHĀ

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1970

Gopal Mandir Lane,
P. O. Chowkhamba, Post. Box 8,
Varanasi-1 (India)
1970
Phone : 63145

First Edition
1970
Price : Rs. 10-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

प्रस्तावना

राजनीतिशास्त्र और उसकी परम्परा

भारतीय साहित्य में राजनीति-विषयक ग्रन्थों के निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन है। कल्पसूत्र उसके आदि स्रोत हैं, जिनका निर्माण लगभग ७०० ई० पूर्व में हो चुका था। धर्म और अर्थ के साथ राजनीति की विस्तृत चर्चाएँ धर्मसूत्रों, विशेषरूप से बौधायन धर्मसूत्र में देखने को मिलती हैं। इस दृष्टि से बौद्ध जातकों के सन्दर्भ भी महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी रचना तथागत से पहले लगभग ६०० ई० पूर्व में मानी जाती है। जातकों में अर्थ के अन्तर्गत ही राजनीति का समन्वय किया गया है और उसे प्रमुख विज्ञान के रूप में माना गया है।

राजनीति-विषयक बातों की विस्तृत चर्चा 'महाभारत' (५०० ई० पूर्व) में देखने को मिलती है। 'महाभारत' के शान्तिपर्व (अध्याय ५८, ५९) में इस परम्परा के प्राचीन आचार्यों का उल्लेख हुआ है। उनमें प्रजापति के 'राजशास्त्र' का भी उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि राजनीति को एक प्रमुख विषय के रूप में माना जाने लगा था। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' (३०० ई० पूर्व) इस विषय का प्रौढ़ ग्रन्थ है। उसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजनीति को एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई थी। राजनीति पर लिखा गया आचार्य उशनस् का 'दण्डनीतिशास्त्र' सम्भवतः इस परम्परा का ग्रन्थ था, जिसका उल्लेख विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' (१।७) में देखने को मिलता है। उसके बाद लगभग चौथी शती ई० तक धर्म और अर्थ विषय पर लिखे गये ग्रन्थों में राजनीति की विस्तृत चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। धर्म और अर्थ का प्रमुख अङ्ग होने के कारण राजनीति का महत्त्व सभी धर्मवक्ताओं एवं अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया।

राजनीति पर एक सर्वाङ्गीण बृहद् ग्रन्थ की रचना आचार्य शुक्र ने की थी, जिसको कि 'शुक्रनीतिसार' के नाम से कहा जाता है। इस ग्रन्थ का उल्लेख मध्ययुगीन स्मृतिकारों ने किया है। अनेक ग्रन्थों में उसके उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। 'राजनीति-रत्नाकर' में भी उसके अंश उद्धृत हैं। आचार्य शुक्र के राजनीति-विषयक ग्रन्थ के आधार पर ४०० ई० के लगभग आचार्य कामन्दक ने 'नीतिसार' के नाम से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। विद्वानों का अभिमत है कि कामन्दकीय 'नीतिसार' भी अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। सम्प्रति उसका जो रूप उपलब्ध है, वह १७ वीं श० ई० का पुनः संस्करण है।

राजनीति-विषयक चर्चाओं की दृष्टि से पुराणों का विशेष महत्त्व है। 'अग्निपुराण' और 'मत्स्यपुराण' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों पुराणों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वे अपने पूर्ववर्ती राजनीति-विषयक ग्रन्थों की प्रौढ़ परम्परा के सूचक हैं। इन पुराणों की रचना ५वीं से ७वीं श० ई० के बीच मानी जाती है।

इस परम्परा में आचार्य बृहस्पति के 'अर्थशास्त्र' और सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। बृहस्पति का 'अर्थशास्त्र' अपने मूल रूप में बहुत प्राचीन है, किन्तु जिस रूप में आज वह उपलब्ध है उसे ९वीं-१०वीं श० ई० का पुनः संस्करण बताया जाता है। 'नीतिवाक्यामृत' को भी इसी समय की रचना माना जाता है। उसके रचनाकार सोमदेव 'कथासरित्सागर' के रचयिता से भिन्न थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि १०वीं श० ई० के बाद विद्वानों का ध्यान राजनीति-विषय की ओर विशेषरूप से केन्द्रित हुआ। इस सन्दर्भ में जैनाचार्य हेमचन्द्र (१२ वीं श०) का 'लघ्वर्हन्नीति' और धारानरेश भोज (१२ वीं श०) का 'युक्तिकल्पतरु' का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। १४वीं से १८वीं श० ई० के बीच इस विषय पर जिन महत्त्वपूर्ण कृतियों का निर्माण हुआ उनमें 'राजनीति रत्नाकर', 'राजनीति कल्पतरु', 'राजनीति कामधेनु', 'वीरमित्रोदय' और 'राजनीति मयूख' का नाम उल्लेखनीय है। प्रथम तीन ग्रन्थों के निर्माता चण्डेश्वर या चन्द्रशेखर और अन्त के दोनों ग्रन्थों के निर्माता क्रमशः मित्रमिश्र और नीलकण्ठ हैं।

चण्डेश्वर

मध्ययुगीन धर्मवक्ताओं एवं राजनीतिज्ञों में चण्डेश्वर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। मिथिला के धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों में उनका नाम प्रमुख है। वंश-परम्परा से वे एक सम्भ्रान्त एवं प्रतिष्ठित परिवार के थे। उनके पिता का नाम वीरेश्वर था, जो कि स्वयं प्रधानामात्य (महासान्धिविग्रहिक) के उच्च पद पर रह चुके थे। उनके पितामह का नाम देवादित्य था। वे भी प्रख्यात विद्वान् थे। चण्डेश्वर के चाचा धीरेश्वर, शुभदत्त, गणेश्वर और लक्ष्मीदत्त सभी उच्च-अधिकार-पदों पर रह चुके थे। वे सभी धर्मशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के विद्वान् थे। उनके चचेरे भाई शिवदत्त भी अपने समय के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे।

उनके 'राजनीतिरत्नाकर' की प्रारम्भिक तथा अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वे कर्णाटवंशीय मिथिलाधिप हरिसिंह देव के प्रधानामात्य थे। इतिहास

में यह राजवंश 'सिमराँव राजवंश' के नाम से कहा जाता है। इस राजवंश के राजा १३२४ ई० तक सिमराँव में रहे। उसके बाद सम्राट् गियासुद्दीन तुगलक ने उसको स्वायत्त किया।

अपने 'राजनीतिरत्नाकर' की रचना चण्डेश्वर ने मिथिलाधिप भवेश की आज्ञा से की थी। राजा भवेश या भवेश्वर कर्णाट वंश के बाद कामेश्वर राजवंश के राजा थे, जो कि १३७० ई० में मिथिला के स्वामी थे। कामेश्वरवंशीय राजा भवेश के सम्बन्ध में विस्तार से ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह बड़ा प्रभावशाली और बुद्धिमान् था।

नेपाल की पर्वतीय वंशावली से ज्ञात होता है मिथिला के राजा हरिसिंह देव ने लगभग २८ वर्षों तक नेपाल में राज्य किया। इस आधार पर ज्ञात होता है कि राजा हरिसिंह देव के शासनकाल १३४२ ई० के बाद चण्डेश्वर पुनः मिथिला लौट आये थे। मिथिला में उस समय कामेश्वरवंशीय राजा भवेश का राज्य था।

चण्डेश्वर अनेक विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनका 'स्मृतिरत्नाकर' या केवल 'रत्नाकर' एक बृहद् निबन्ध है। उसमें कृत्य, दान, व्यवहार, शुद्धि, पूजा, विवाह और गृहस्थ नामक सात अध्याय हैं। तिरहुत की धर्म-व्यवस्था के लिए चण्डेश्वर का 'विवादरत्नाकर' और वाचस्पति मिश्र की 'विवादचिन्तामणि' प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। उनका 'विवादरत्नाकर' एशियाटिक सोसाइटी बंगाल से प्रकाशित हो चुका है। इसमें सौ तरंगें हैं।

हिन्दू व्यवहारों पर लिखे गये उनके 'कृत्यरत्नाकर' में बाईस तरंगें, 'गृहस्थरत्नाकर' में अड़सठ तरंगें, 'दानरत्नाकर' में उन्तीस तरंगें और 'शुद्धिरत्नाकर' में चौतीस तरंगें हैं। स्मार्त विषय पर लिखे गये उनके ग्रन्थों के नाम हैं 'कृत्यचिन्तामणि', 'दानवाक्यावली' और 'शिववाक्यावली'। उनकी 'कृत्यचिन्तामणि' में ज्योतिष के आधार पर उत्सव-संस्कारों का वर्णन है। इस ग्रन्थ का अच्छा प्रचलन है।

उनका 'विवादरत्नाकर' १२३६ शकाब्द की रचना है। अन्य सूत्रों से विदित होता है कि उस समय मिथिला पर राजा हरिसिंह देव का राज्य था। 'कृत्यरत्नाकर' में भी चण्डेश्वर ने अपने आश्रयदाता का नाम हरिसिंह देव लिखा है। चण्डेश्वर का आश्रयदाता यह राजा १३२४ ई० में, जब कि दिल्ली की सल्तनत पर गियासुद्दीन तुगलक आसीन था, मिथिला छोड़कर नेपाल चला गया था। इस राजा ने नेपाल पर चढ़ाई कर उसको स्वायत्त किया था। उसने लगभग २८ वर्षों तक राज्य किया। नेपाल के पुनर्निर्माण में इस राजा का नाम आदर के साथ लिया जाता है। 'विवादरत्नाकर' में लिखा है कि हरिसिंह देव

के मन्त्री चण्डेश्वर ने अपने बुद्धि-वैभव से नेपाल को जीतकर अपने को सुवर्ण से तुलवाया था। इस विजय के बाद सम्भवतः चण्डेश्वर को प्रधानामात्य (महासान्धिविग्रहिक) का पद दिया गया था। राजा हरिसिंह देव के वे प्रधान न्यायाधीश (प्राड्विवाक) भी थे। 'राजनीतिरत्नाकर' में उन्होंने अपने को प्रधानामात्य के रूप में कहा है।

'राजनीतिरत्नाकर' उनका प्रौढ़ ग्रन्थ है। उसमें सोलह तरङ्गें हैं, जिनका आगे विस्तार से विवेचन किया गया है।

चण्डेश्वर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का उनके उत्तरवर्ती विद्वानों पर बड़ा प्रभाव लक्षित हुआ। मैथिल और वंगवासी विद्वान् उनसे बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। मिसरु मिश्र, वर्धमान, वाचस्पति मिश्र और रघुनन्दन आदि ग्रन्थकारों ने चण्डेश्वर को बार-बार उद्धृत किया है। वीरमित्रोदय ने उनके 'रत्नाकर' को पूर्वी अंचल का अत्यधिक प्रभावशाली एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। इस प्रकार उनकी ख्याति एवं लोकप्रियता का पता चलता है।

चण्डेश्वर के ग्रंथों के अन्तर्बाह्य साक्ष्यों और उनके द्वारा उद्धृत पूर्ववर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के उल्लेखों तथा इसी प्रकार परवर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों में उद्धृत उनके नाम तथा ग्रन्थों के आधार पर सामान्यतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे १३वीं, १४वीं श० ई० में हुए थे। उनके आश्रयदाता राजाओं का शासनकाल भी यही है।

राजनीतिरत्नाकर

'राजनीतिरत्नाकर' अपने विषय का प्रमुख एवं प्रौढ़ ग्रन्थ है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से ही नहीं, विषय-विभाजन की दृष्टि से भी उसका बड़ा महत्त्व है। उसमें सोलह तरंगें हैं प्रत्येक तरंग की व्यवस्था एवं क्रमबद्धता में ग्रन्थकार ने विशेष दृष्टि अपनायी है। ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने सोलह तरंगों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है :—१. राजा का निरूपण, २. मन्त्री का निरूपण, ३. पुरोहित का निरूपण, ४. प्राड्विवाक (सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश) का निरूपण, ५. सभ्यों का निरूपण, ६. दुर्ग का निरूपण, ७. मन्त्रणा का निरूपण, ८. कोष का निरूपण, ९. बल (सेना) का निरूपण, १०. सेनापति का निरूपण, ११. दूतों का निरूपण, १२. राजा के सामान्य कार्यों का निरूपण, १३. दण्ड का निरूपण, १४. राज्य-व्यवस्था का निरूपण, १५. पुरोहित आदि द्वारा राज्यदान निरूपण और १६. राज्याभिषेक निरूपण।

इन सोलह विभिन्न तरंगों में विजिगीषु राजा की अमात्य आदि प्रकृति और राज्य की सुव्यवस्था का प्रतिपादन करने के उपरान्त अन्त में राजा के

वास्तविक एवं न्यायसंमत उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र के राज्याभिषेक का विस्तार से निरूपण किया गया है। उक्त विभिन्न विषयों का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने प्रत्येक तरंग के आरम्भ में किसी प्रामाणिक विधि-ग्रन्थ या धर्मवक्ता अथवा अर्थशास्त्रकार का मत उद्धृत करके उसकी सम्पुष्टि में अन्य ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों के विधानों का प्रतिपादन करते हुए बीच-बीच में उनके पारस्परिक मतान्तरों एवं विषमताओं में समन्वय स्थापित करते हुए अन्त में एक सर्वमान्य सिद्धान्त की स्थापना की है। वेदों और पुराणों से लेकर धर्म, अर्थ, नीति आदि विषयक समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों के मत-मतान्तरों की गवेषणा करके चण्डेश्वर ने प्रत्येक विषय का सांगोपांग विवेचन करके और बीच-बीच में अपनी स्वतंत्र टिप्पणियाँ प्रस्तुत करके अपने ग्रन्थ की उपयोगिता एवं विलक्षणता को सिद्ध किया है। 'राजनीतिरत्नाकर' इस दृष्टि से अपने विषय का अनुपम ग्रंथ है क्योंकि उसमें प्रत्येक विषय पर समस्त पूर्ववर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के विचारों का एक साथ समन्वय देखने को मिलता है। विभिन्न ग्रन्थों से उद्धृत मतों की व्याख्या करने और उनमें प्रयुक्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के अर्थबोध के लिए चण्डेश्वर ने जो पद्धति अपनायी है वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय को विभिन्न प्रमाणों द्वारा परिपुष्ट करके चण्डेश्वर ने अपने ग्रन्थ को एक प्रामाणिक कृति के रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया है।

अपने ग्रन्थ 'राजनीतिरत्नाकर' नाम की सार्थकता की ओर संकेत करते हुए चण्डेश्वर ने अन्त में लिखा है कि 'मनु आदि के स्मृति-ग्रन्थों में निरूपित राजनीति के अगाध एवं विशाल सागर से सारस्वरूप रत्नों को लेकर तथा अन्य अनेक नीति-निबन्धों से सर्वसम्मत विचारों को बड़े श्रम से चयन कर मुझ चण्डेश्वर मन्त्री द्वारा रचा गया यह ग्रन्थ भगवान् को मान्य एवं राजाओं द्वारा समादृत तथा उदार पुरुषों का उन्नतिकारक होकर इस पृथ्वी पर ऐश्वर्य की वृद्धि करे।'

इस ग्रन्थ के द्वारा चण्डेश्वर का एकमात्र अभिप्राय यह रहा है कि प्रत्येक राजा धर्म और अर्थ में सामंजस्य स्थापित करके न्यायोचित मार्ग पर चलकर राजनीति के वास्तविक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व का भली भाँति निर्वाह करे। उसकी सोलह तरंगों की विषय-सामग्री का संक्षेप में आगे क्रमशः निरूपण किया गया है।

राजा

चण्डेश्वर ने मनु के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि संसार की रक्षा के लिए प्रजापति ने राजा की सृष्टि की है। प्रजा की रक्षा करने वाले राज्याभिषिक्त पुरुष को वहां राजा माना गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार उसे

उत्साही, महान् लक्ष्य वाला, कृतज्ञ, वृद्धसेवक, विनीत, पराक्रमी, कुलीन, सत्यवक्ता, पवित्र, त्वरितबुद्धि, स्मरणशक्तिवाला, छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने वाला, कोमल, धार्मिक, व्यसनों से रहित, विद्वान्, वीर और रहस्यों का ज्ञाता होना चाहिए। इन गुणों के अतिरिक्त उसे धार्मिक भी होना चाहिए। वह तीन प्रकार का होता है : १ सम्राट् (चक्रवर्ती), २ सकर (कर देने वाला) और ३ अकर (कर न देने वाला)। इन तीनों राजाओं के धर्म और गुण एक समान हैं। 'राजनीतिकामधेनु' नामक ग्रन्थ में इन तीनों राजाओं के अधिकारों और कर्तव्यों का अलग-अलग निरूपण किया गया है।

श्रुति-स्मृति-परायण, विद्वान् ब्राह्मणों एवं वृद्धों की सेवा और प्रजा का पालन राजा का प्रमुख धर्म या कर्तव्य है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि जो राजा अन्यायपूर्वक राष्ट्र का शोषण करता है वह शीघ्र ही श्रीहीन होकर सबन्धु-बान्धव नष्ट हो जाता है। उसे वेद, वेदान्त, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति और कृषि, वाणिज्य आदि विषयों के ज्ञाता विद्वानों से विभिन्न शास्त्रों एवं विद्याओं का अध्ययन करना चाहिए। वह इन्द्रियों को अपने वश में रखता हुआ दस कामज दुर्व्यसनों और आठ क्रोधज दुर्व्यसनों का यत्नपूर्वक परित्याग करे; क्योंकि व्यसनी राजा का निश्चित पतन होता है, जब कि व्यसनरहित राजा ऐहिक और पारलौकिक सफलता को प्राप्त करता है।

आचार्य कौटिल्य ने राजा के कर्तव्यों और अधिकारों की जो सीमाएँ निश्चित की हैं, चण्डेश्वर ने उनका कोई उल्लेख नहीं किया है। धर्म, राजनीति और अर्थ-विषयक सभी ग्रन्थकारों ने कौटिल्य के मत को सर्वोपरि स्वीकार किया है। उसका कारण वस्तुतः यह है कि कौटिल्य की दृष्टि में राजा एक प्रकार का व्यवस्थापक है, जिसको प्रजा की सुख-सुविधाओं एवं प्रजा के अभीष्टों का ध्यान रखना होता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण प्रजा के लिए है। हिन्दू राजतंत्र में राजा की चारित्रिक और नैतिक श्रेष्ठता का ऐसा उदाहरण किसी भी जाति की शासन-परम्परा में देखने को नहीं मिलता है।

हिन्दू राजनीति में शासन-व्यवस्था राष्ट्र की एक पुनीत थाती समझी गयी है, जो राजा को इसलिए सौंपी जाती थी कि वह प्रजा की सुख-समृद्धि और कल्याण-कामना के लिए सचेष्ट रहे। अभिषेक के समय राजा को यह कह कर इस पुनीत थाती को सौंपा जाता था कि "यह राष्ट्र तुम्हें सौंपा जाता है। तुम इसके संचालक, नियामक और उत्तरदायित्व के दृढ़ वाहनकर्ता हो। यह राज्य तुम्हें कृषि के कल्याण, सम्पन्नता और प्रजा के पोषण के लिए दिया जाता है।"

वैदिक युग से चली आती इसी परम्परा को उत्तरवर्ती शासकों ने शिरोधार्य किया और उसी रूप में उसका निर्वाह भी किया।

अमात्य

राजा के बाद अमात्य का स्थान है, क्योंकि उसके बिना राज्यकार्य का निर्वाह होना संभव नहीं है। मनु के निर्देशानुसार वंश-परम्परा से जो राज्य की सेवा करते आ रहे हों, शास्त्रों के ज्ञाता हों, वीर हों, युद्धविद्या में कुशल हों और कुलीन हों—ऐसे सुपरीक्षित सात या आठ व्यक्तियों को राजा अमात्य नियुक्त करे। उनमें से एक प्रमुख अमात्य नियुक्त करे, जो राजा की अनुपस्थिति में उसका कार्य करे। राजा को चाहिए कि सभी सन्धि-विग्रहादि कार्यों पर वह अमात्यों के साथ बैठ कर विचार करे।

महाभारतकार का विधान है कि अमात्य को अपनी शक्ति भर राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए। राजा को दूर से देखते ही वह मुस्कुरा कर उसका स्वागत करे, कुछ पूछने पर आदरपूर्वक उसका उत्तर दे, परोक्ष में राजा के गुणों की प्रशंसा करे और सदा उसकी प्रिय वस्तुओं को ध्यान में रखे। इस प्रकार का अमात्य राजा को प्राणों की तरह प्रिय होता है।

राजा को चाहिए कि वह भली भाँति सोच-विचार कर अमात्यों की नियुक्ति करे। मूर्ख अमात्यों के कारण राजा को अपयश प्राप्त होता है। धन-हानि होती है और अन्त में वह नरकगामी होता है। इसके विपरीत विद्वान् अमात्यों के सहयोग से उसे यश, धन और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विद्वानों का अभिमत है कि सुपरीक्षित सर्वगुणसम्पन्न विद्वान् व्यक्तियों को अमात्य नियुक्त करना चाहिए।

अमात्यों की परिषद् को मंत्रिपरिषद् के नाम से कहा गया है। राजा और अमात्य साम्राज्यरूपी शकट के दो पहिए हैं, जिसके बिना राष्ट्र का संचालन संभव नहीं है। अमात्य ही राजा का ऐसा सहायक होता है, जो विपत्ति के समय उसकी रक्षा और प्रमाद के समय उसको सावधान करता है।

पुरोहित

पुरोहित को समस्त कार्यों के मंगल का कारण बताया गया है (सर्वमङ्गल-कारणमतोऽत्र पुरोहितः)। राजा को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को पुरोहित नियुक्त करे, जो वेद एवं वेदार्थ के तत्त्व का ज्ञाता, जप-होमादि धार्मिक कार्यों में निरत, आशीर्वाद-परायण और चतुर हो। पुरोहित के साथ ही राजा को श्रौत-स्मार्त कार्यों के सम्पादन के लिए ऋत्विजों को नियुक्त करना चाहिए। उनको यथेष्ट दक्षिणा देकर यज्ञ करना चाहिए। धर्मशास्त्रकारों का कहना है कि ब्राह्मणों को दानस्वरूप जो कुछ भी दिया जाता है, राजा के लिए वह अक्षय निधि बन जाता है। मनु का तो यहां तक कहना है कि अग्नि में किये गये हवन की

अपेक्षा ब्राह्मण के मुख में किया गया होम, अर्थात् ब्राह्मण को दिया गया दान, श्रेष्ठ है।

प्राड्विवाक

अमात्य और पुरोहित के अनन्तर राजा को धर्म एवं न्याय की व्यवस्था के लिए एक प्रधान न्यायाधीश की नियुक्ति करनी चाहिए। स्मृतिकारों का निर्देश है कि ऐसे व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त करना चाहिए, जो कुलीन, शीलसम्पन्न, गुणवान्, सत्यवक्ता, धर्मनिरत, चतुर और निपुण हो। न्याय-सम्बन्धी सभी कार्यों के निर्णय के लिए राजा प्राड्विवाक् को नियुक्त करे। प्राड्विवाक् उसे इसलिए कहा गया है कि वह विवाद के समय सभ्यों (जूरियों) के साथ तथ्यों का अवलोकन करके प्रयत्नपूर्वक विचार करता है। शास्त्रानुसार तीन सभ्यों के साथ प्राड्विवाक् प्रत्येक विवाद का निर्णय करता है। जिस विवाद में न्यायाधीश सहित सभी सभासद विचार करके एकमत हों उसी को शुद्ध धार्मिक निर्णय माना गया है।

सभा और सभ्य (जूरी)

धर्मवक्ता हारीत के मत से सभा के चार प्रकार और तदनुसार सभ्यों की चार श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। चार प्रकार की सभाओं के नाम हैं—१. प्रतिष्ठिता, २. अप्रतिष्ठिता, ३. सुमुद्रिता और ४. शासिता। किसी नगर या राजा द्वारा निश्चित किये गये विशेष स्थान पर जो सभा बुलायी जाती है उसे प्रतिष्ठिता कहा गया है। किसी गाँव में आयोजित होने वाली सभा को अप्रतिष्ठिता कहा गया है। जिस सभा में अध्यक्ष और न्यायाधीश विद्यमान होते हैं उसे सुमुद्रिता कहा गया है। इसी प्रकार जिस सभा में राजा भी विद्यमान होता है उसे शासिता नाम से कहा गया है।

सभा के दस अंग बताये गये हैं, जिनके नाम हैं : १. राजा, २. अधिकारी, ३. सभासद, ४. धर्मशास्त्र, ५. गणक, ६. लेखक, ७ सुवर्ण, ८. अग्नि, ९. जल और १०. दण्डधारी। अधिकारी वक्ता का कार्य करता है। राजा शासन करता है। सभासद लोग कार्यों का निरीक्षण करते हैं। धर्मशास्त्र निर्णय का कार्य करता है। गणक अर्थ का हिसाब करता है। लेखक न्यायालय की कार्यवाही को लिखता है। सुवर्ण, अग्नि और जल शपथ की प्रमाण सामग्री हैं। इन दस अंगों से अधिष्ठित और विद्वान् न्यायाधीश द्वारा प्रतिष्ठित सभा शिष्टजनों की दृष्टि से मान्य होती है।

राजा को चाहिए कि वह ऐसे सभ्यों को नियुक्त करे जो उत्तम कार्यों के

अधिष्ठाता, सत्य तथा धर्म में निरत रहने वाले, क्रोध एवं लोभ से रहित और शास्त्रों के ज्ञाता हों। वे धर्म और कर्म, दोनों में निष्णात हों।

नारद का अभिमत है कि व्यवहार (निर्णय) की शुद्धता पर सभासदों की शुद्धता निर्भर है। उनकी शुद्धि के लिए धर्म की आवश्यकता है। इसलिए धर्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। सभ्यों का कर्तव्य है कि वे राजा को धर्म-अर्थ से युक्त वचन कहें। सभा में जहां वे अधर्म की बात देखें, चुप न बैठकर, उसका प्रतिवाद करें।

दुर्ग

मनु का कहना है कि दुर्ग में रहने वाला एक ही धनुर्धारी बाहर के सौ सैनिकों का सामना कर सकता है। इसी प्रकार किले के सौ सैनिक बाहर के दस हजार सैनिकों का मुकाबला कर सकते हैं। इसलिए राजा को दुर्ग का निमार्ण करवाना चाहिए।

राजा को चाहिए कि सर्वप्रथम वह अपने रहने योग्य सर्वसाधनसम्पन्न सुविधाजनक स्थान का चयन करे। अपनी सुरक्षा और समृद्धि के लिए वह उपयुक्त भूमि में धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग आदि छह अनेक प्रकार के दुर्गों का निर्माण करावे। स्वयं के लिए उसे गिरिदुर्ग का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि वह सभी दुर्गों में श्रेष्ठ होता है। प्रत्येक दुर्ग अस्त्र-शस्त्र, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पी, यंत्र, तृण, जल, पुष्पवाटिका, जलाशय तथा वृक्षों से युक्त होना चाहिए। उसके भीतर अनेक कक्षाओं वाले भवन बनवाने चाहिएँ।

कौटिल्य का विधान है कि जनपद-सीमाओं की चारों दिशाओं में राजा युद्धोचित प्राकृतिक दुर्गों का निमार्ण करावे। कौटिल्य ने चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं—१. औदक (तालाबों से आवृत), २. पार्वत (पर्वत कन्दराओं के रूप में), ३. धान्व (ऊसर भूमि में निर्मित) और ४. वनदुर्ग (दलदल से घिरा हुआ एवं काँटेदार सघन झाड़ियों से आवृत)। आपत्ति के समय राजा को चाहिए कि वह इन दुर्गों का आश्रय ले।

मंत्रणा

शास्त्रकारों ने मंत्रणा के विधि-विधानों और उसकी सुरक्षा के लिए बड़ी सावधानी की अपेक्षा बतायी है। मनु ने कहा है कि पर्वत की चोटी पर या एकान्त राजभवन अथवा जंगल में, जहाँ किसी प्रकार से मंत्रभेद की आशंका न हो, गुप्त मंत्रणा करनी चाहिए। याज्ञवल्क्य का कहना है कि राज्य का मूल मन्त्र मंत्रणा ही हुआ करती है। इसलिए मंत्र को भली भाँति गुप्त रखना चाहिए।

राजा के सन्धि-विग्रहादि कार्यों का फल जब तक प्रकाश में न आ जाय तब तक मंत्रणा का भेद प्रकट नहीं होना चाहिए।

मनु का निर्देश है कि कि दोपहर में या आधी रात को, जब चित्त शान्त और शरीर क्लेशरहित हो, तब राजा को अपने मंत्रियों के साथ या अकेले ही धर्म, अर्थ और काम का चिन्तन करना चाहिए। किन्तु महाभारतकार का कहना है कि रात्रि में मंत्रणा कभी नहीं करनी चाहिए। मूर्ख, गूंगा, अंधा, बहरा, पक्षी, वृक्ष, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी और अंगहीन इन सबको मंत्रणा के समय हटा देना चाहिए। मनुष्य का अनुकरण करने वाले वानर और मनुष्य की बोली बोलने वाले तोता, मैना आदि पशु-पक्षियों को भी मंत्रणा से दूर रखना चाहिए।

मनु ने लिखा है कि जिस राजा की मंत्रणा को, मंत्रियों के अतिरिक्त, अन्य लोग मिल कर भी नहीं जान पाते, वह राजा कोषरहित होने पर भी सारी पृथ्वी का उपयोग करता है।

राजा को चाहिए कि वह अपने गुप्त भावों को उसी प्रकार अपने मन में छिपाये रखे, जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को छिपाये रहता है। जिस तरीके से कार्यसिद्धि हो उसीको अपनाकर वह अपनी मंत्रणा को सार्थक बनाये।

कोष

ऐसा कोष प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ माना गया है, जिसमें जमा किया जाय बहुत और निकाला जाय कम; जिसमें देवताओं की पूजा की जाय; जो अपेक्षित बहुमूल्य द्रव्यों से भरपूर हो; विश्वस्त लोगों द्वारा जिसकी देख-रेख होती हो; जो मोती, सुवर्ण तथा रत्नों से भरपूर हो; जो पैतृक परम्परा से चला आता हो; जो धर्म से उपार्जित हो और व्यय को वहन करने वाला हो। राजा को चाहिए कि वह कोष को बढ़ाने की सतत चेष्टा करे और समय-समय पर धर्म, अर्थ तथा काम के निमित्त उसका व्यय भी करता रहे। नीतिशास्त्रज्ञ व्यक्तियों का कहना है कि धर्म-अर्थ-काम के लिए किया गया व्यय प्रकारान्तर से कोष की वृद्धि का ही कारण होता है।

सेना

अपनी स्थिति को दृढ़ करने और कार्य-सिद्धि के लिए राजा को चाहिए कि वह सेना (बल) की सुव्यवस्था की ओर ध्यान दे। राष्ट्र और दुर्ग की रक्षा के लिए विजिगीषु राजा को चाहिए कि प्रधान पुरुष की अधीनता में सेना का प्रबन्ध करे; यात्रा के उपयुक्त सभी प्रकार की सामग्री को साथ ले ले; शत्रुराज्य के गुप्त छिद्रों का पता लगाने के लिए अपने गुप्तचरों को भेजे; जांगल, आनूप

और आटविक—इन तीनों प्रकार के मार्गों का परिशोध करे; और तदनन्तर हाथी-घोड़े आदि छह प्रकार की सेनाओं का संयोजन करके रणनीति के अनुसार धीरे-धीरे शत्रु की नगरी पर आक्रमण करने लिए अभियान कर दे।

मनु का विधान है कि युद्ध-विजय के अनन्तर राजा को देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। वहाँ के मंत्री, पुरोहित आदि के मन का आशय जानकर विगत राजा के किसी वंशज को उसकी राजगद्दी पर बैठा देना चाहिये।

सेनापति

अमात्य, पुरोहित आदि की भाँति सेनापति का भी प्रमुख स्थान माना गया है। हस्ति, अश्व, रथ और पदाति आदि सेनाएँ, जिन्हें कि दण्ड के नाम से कहा जाता है, सेनापति के अधीन होती हैं। विनय रूप क्रिया दण्ड के अधीन होती है। कोष तथा राष्ट्र राजा के अधीन होते हैं, और सन्धि तथा विग्रह का दायित्व राजदूत पर निर्भर होता है।

सैन्यविद्या के जानकार आचार्यों का कहना है कि सेनापति ऐसा होना चाहिए, जो वंश-परम्परा से सम्बन्धित, सम्बन्धी, प्रिय, वेतनभोगी, पुरुषार्थयुक्त, लोकप्रिय, दक्ष, कुशल, शस्त्रास्त्रों से युक्त, नाना प्रकार के युद्धों में निपुण, अनेक योद्धाओं से युक्त, हाथी-घोड़ों पर चढ़कर शस्त्रास्त्र संचालन में कुशल, प्रवास के कठिन संकटों को सहन करने वाला, युद्ध में श्रम करने वाला, संकल्प-विकल्प से रहित और प्रायः क्षत्रिय हो। मनु ने सैनिक तथा सेनापति के धर्म का निरूपण करते हुए लिखा है कि युद्धक्षेत्र को पीठ दिखा कर भागे हुए सैनिक एवं सेनापति के सभी अर्जित पुण्य उसके स्वामी को प्राप्त हो जाते हैं और उसे पापों का भार वहन करने को मिलता है।

राजदूत और गुप्तचर

दूतों की योग्यता, नियुक्ति और व्यवस्था पर 'राजनीतिरत्नाकर' में विशेष विचार किया गया है। मनु का निर्देश है कि जो व्यक्ति सम्पूर्ण शास्त्र में पारंगत, संकेतों, हाव-भावों तथा चेष्टाओं से मन के भावों को जानने वाला, पवित्र-चरित्र और कुलीन हो उसे दूत या राजदूत नियुक्त करना चाहिए। ऐसा दूत श्रेष्ठ माना गया है, जो प्रेम-व्यवहार करने वाला, सच्चरित्र, चतुर, मेधावी, देश-काल का ज्ञाता, रूपवान्, निर्भीक और सुवक्ता हो। दूत एक ऐसा व्यक्ति है, जो दो शत्रुओं को आपस में मिला देता है। दो मित्रों को फोड़ देता है। शत्रुपक्ष के जन-बल को छिन्न-भिन्न कर देता है।

दूत राजा का मुख होता है। राजा की आज्ञा के अनुसार ही वह बोलता है। वह म्लेच्छ भी हो, तब भी उसे मारना नहीं चाहिए। उसे आत्मरक्षा का विशेषाधिकार प्राप्त है। सभी धर्मवक्ताओं और अर्थशास्त्रियों ने राजदूत के वध का निषेध किया है। रामायण, महाभारत और अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में राजदूत या दूत के वध का सर्वथा निषेध किया गया है।

भारत की प्राचीन राजनीति में राजदूत को मंत्रिपरिषद् का सदस्य माना जाता था। राष्ट्र के निर्माण और नीतियों के कार्यान्वयन में राजा को जो अधिकार प्राप्त थे, परराष्ट्र के सबन्ध में वे ही अधिकार राजदूत को प्राप्त थे। इस दृष्टि से उसका महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

राजदूत की ही भाँति गुप्तचर भी राज्य का एक प्रमुख अङ्ग है। आज गुप्तचरों का एक मात्र उद्देश्य अपराधों का पता लगाना मात्र है, किन्तु प्राचीन भारत में उनकी स्थिति इससे भी बढ़कर थी। प्रजा के कष्टों और दुःखों का पता लगाना उनका प्रमुख कार्य था। प्रजा की सुख-शान्ति की व्यवस्था और राजकीय नियमों का परिपालन करना भी उनका कार्य था।

कौटिल्य ने गुप्तचरों की नौ श्रेणियों का उल्लेख किया है। गुप्तचरों का एक वर्ग शत्रु राजा के छिद्रों का पता लगाने के लिए नियुक्त होता था। राजनीति के क्षेत्र में दूसरे राष्ट्रों की स्थिति को राजा तक पहुंचाना भी उनका कार्य था। इस प्रकार स्वराष्ट्र और परराष्ट्र की वस्तुस्थिति का पता लगाने तथा उससे राजा को अवगत कराने में गुप्तचरों का प्रमुख उद्देश्य होता था।

राजा के सामान्य कर्तव्य

चण्डेश्वर ने 'राजनीतिरत्नाकर' की बारहवीं तरंग में राजा के सामान्य कर्तव्यों का निरूपण करते हुए 'मनुस्मृति' के इस सन्दर्भ को उद्धृत किया है—युद्ध से विमुख न होना, प्रजा का पालन और ब्राह्मणों की सेवा करना राजा के लिए परम श्रेयस्कर कर्तव्य है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने वाले राजा को प्रजा के पुण्य का छठा भाग प्राप्त होता है।

मनु के निर्देशानुसार विजिगीषु राजा को चाहिये कि वह सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय आदि छह गुणों का सदा चिन्तन-मनन करता जाय। साम, दान, भेद और दण्ड इन चारो उपायों का उसे विचारपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। दण्ड का प्रयोग उसे उसी स्थिति में करना चाहिये, जब कि दूसरे उपाय निरर्थक हो जायँ।

राजा को चाहिये कि वह बगुले की तरह धन प्राप्त करने की टोह में रहे। जैसे सिंह किसी हाथी पर टूट पड़ता है वैसे ही राजा को भी पूरे पराक्रम

से अपने शत्रु पर टूट पड़ना चाहिये । जैसे भेड़िया किसी सुरक्षित एवं सावधान पशु को भी मार डालता है उसी प्रकार विजिगीषु राजा को दुर्ग-संरक्षित शत्रु का उच्छेद कर देना चाहिये । जैसे हिंसकों से घिरा हुआ खरहा टेढ़ी-मेढ़ी चाल से निकल भागता है उसी प्रकार शत्रुओं से घिर जाने पर विजिगीषु राजा किसी बलवान् शत्रु का आश्रय ले ले ।

अपनी सुरक्षा के साथ राज्य की रक्षा और प्रजापालन उसका प्रथम कर्तव्य है । जो राजा मोह या अज्ञानवश कर्तव्य का विचार न करके अपनी प्रजा को सताता है वह शीघ्र ही सबन्धु-बान्धव अपने राज्य से हाथ धो बैठता है । ब्राह्मणों के प्रति उसे क्षमावान्, स्नेहीजनों के प्रति सौजन्य, शत्रुओं के प्रति क्रोध और अपने आश्रितों एवं प्रजा के प्रति दयालु एवं हितैषी होना चाहिये ।

दण्ड

दण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनु ने लिखा है कि राजा की कार्यसिद्धि के लिए ईश्वर ने प्राणियों के रक्षक, धर्मस्वरूप, ब्रह्मतेजोमय दण्ड की सृष्टि की है । उस दण्ड के कारण सभी चर-अचर प्राणी सुखोपभोग करते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं । दण्ड प्रजा की रक्षा करता है, उसे शासित करता है । जीवों की अचेतनावस्था में भी वह सदा सजग रहता है । इसीलिए विद्वज्जनों ने उसे धर्म की संज्ञा दी है ।

दण्ड के प्रमुख दो प्रकार हैं : १—शारीरिक और २—आर्थिक । पुनः उनके कई अवान्तर भेद हैं । स्मृतिकारों का विधान है कि अपराध, देश, काल, शक्ति, अवस्था, कार्य और आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखकर ही दण्ड देना चाहिये । अविचारित अधर्मपूर्वक दिया गया दण्ड, स्वर्ग, कीर्ति तथा लोक का नाश करता है; किन्तु सुविचारित, धर्मपूर्वक दिया गया दण्ड स्वर्ग, कीर्ति एवं यश को देने वाला होता है ।

राज्य का उत्तराधिकार

सभी प्रकार के दण्डों से प्राप्त धन को ब्राह्मणों को वितरित कर और राज्यभार अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र को देकर राजा को चाहिये कि वह रणभूमि में लड़ता हुआ शरीर का त्याग करे । यदि वह वृद्ध हो जाय, रोग से पीड़ित हो तो ऐसी स्थिति में नगरवासियों को बुलाकर उनके परामर्श से ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंप दे । राजाओं का यह धर्म सनातन रूप में चला आ रहा है कि ज्येष्ठ पुत्र के रहते हुए छोटा पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता है ।

जिस पुत्र के उत्पन्न होने से पिता पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है और जिसके

द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है वही धर्मज पुत्र राज्य के उत्तराधिकार का अधिकारी है। नीति-ग्रन्थों का भी विधान है कि गुणवान् छोटे भाइयों के रहते हुए भी बड़ा भाई ही राज्य का उत्तराधिकारी है; क्योंकि वही पिता का सपिण्डीकरण श्राद्ध करने का अधिकारी है।

पुरोहितादि द्वारा राज्याभिषेक

राज्य का उत्तराधिकार सौंपने से पूर्व ही यदि राजा का देहावसान हो जाय तो ऐसी स्थिति में पुरोहित और मन्त्री आदि के द्वारा मृत राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अभिषिक्त किया जाना चाहिये, क्योंकि लौकिक और पारलौकिक कार्यों में मन्त्री-पुरोहित ही राजा के प्रतिनिधि होते हैं। बड़े भाई के अभाव में छोटा भाई और उसके अभाव में राजवंश का कोई उपयुक्त व्यक्ति राजगद्दी का उत्तराधिकारी होता है।

राज्याभिषेक

पुस्तक की अन्तिम सोलहवीं तरंग में चण्डेश्वर ने राज्याभिषेक का विधान किया है। यदि राजा अपने जीवनकाल में ही मात्सर्य आदि प्रवृत्तियों से विमुक्त हो जाय, अर्थात् राज-काज में उसकी कोई रुचि तथा अभिलाषा न रह जाय तो अपने शुभलक्षण-सम्पन्न ज्येष्ठ पुत्र को वह युवराज पद पर नियुक्त करे। अभाव में क्रमशः अवस्थानुसार उत्तर-उत्तर पुत्र को अभिषिक्त किया जा सकता है। यदि कोई पुत्र न हो तो प्रजा तथा ब्राह्मणों के परामर्श से किसी समीपवर्ती अन्य व्यक्ति को उस स्थान पर नियुक्त किया जा सकता है। अन्य समीपस्थ व्यक्तियों में पुत्र और पौत्र का स्थान पहला माना गया है।

श्रुति-स्मृति में विहित विधानों के अनुसार राज्याभिषेक करना चाहिये। अभिषिक्त युवराज को चाहिये कि जाति, देश, कुल और धर्म के अनुसार परम्परा से चली आ रही प्रथाओं का वह पूर्ववत् पालन करे। उसके जो अनुज हैं उनके भरण-पोषण की भी वह समुचित व्यवस्था करे। अभिषिक्त युवराज को चाहिये कि वह राष्ट्र सहित अपने मंत्री, पुरोहित आदि राज्याङ्गों को वश में करे। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध न उत्पन्न करने वाले मध्य मार्ग पर चलता हुआ वह व्यवहार बुद्धि से अपने राज्य का संचालन करे।

राजनीतिरत्नाकर में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

चण्डेश्वर का 'राजनीतिरत्नाकर' एक संग्रह-ग्रन्थ है। उसमें अनेक पूर्ववर्ती धर्मवक्ताओं, अर्थशास्त्रकारों और राजनीति-विषयक ग्रन्थकारों के मतों का उल्लेख

हुआ है। पूर्वाचार्यों के मतों को उद्धृत करने का चण्डेश्वर का दृष्टिकोण सर्वथा वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता है। यद्यपि उन्होंने अधिकतर ग्रन्थकारों और ग्रन्थों को उद्धृत किया है; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रतिपादन सर्वांगीण नहीं है।

'राजनीतिरत्नाकर' का अनुशीलन करने से अवगत होता है कि कहीं-कहीं उसके सन्दर्भ विसङ्गत भी हो गये हैं। चण्डेश्वर के समय बारहवीं-तेरहवीं शती तक राजनीति विषय पर मौलिक और संग्रह रूप में अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके थे। इस दृष्टि से चण्डेश्वर की यह कृति अध्येताओं को प्रतिपाद्य विषय की पूर्णता के प्रति सन्तोष प्रदान करने में सफल प्रतीत नहीं होती है। ग्रन्थ की सोलह तरंगों में जिन विषयों का निरूपण किया गया है, परम्परा द्वारा प्राप्त उनकी मान्यता एवं सम्पुष्टि के लिये प्रमाण रूप में जो उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं उनसे अध्येता की जिज्ञासा का पूर्ण उपशमन नहीं हो पाता है।

इन खामियों के बावजूद भी अपने क्षेत्र में 'राजनीतिरत्नाकर' की लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि सुविदित है। उसमें जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का उल्लेख हुआ है उनका नामानुक्रम की दृष्टि से यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। ईसा की अनेक शतियों के पहले से लेकर ईसा की लगभग बारहवीं शती तक के बीच वर्तमान ये पूर्वाचार्य कई दृष्टियों से उल्लेखनीय एवं ज्ञातव्य हैं।

अमरसिंह

संस्कृत के कोशकारों में अमरसिंह का नाम विश्रुत एवं प्रसिद्ध है। वे बौद्ध थे और उनकी गणना विक्रमादित्य के नवरत्नों में की गई है। इस दृष्टि से उनका स्थितिकाल ४००–५०० ई० के आस-पास बैठता है। कुछ विद्वानों ने उनको ६००–९०० ई० के बीच माना है।

इस समय उपलब्ध होने वाले कोश-ग्रन्थों में 'अमरकोश' का नाम प्रमुख है। वह सर्वाधिक लोकप्रिय एवं ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ है। उसकी उपयोगिता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उस पर अब तक लगभग पचास टीकाएँ लिखी गई हैं। उनमें क्षीरस्वामी भट्ट की टीका सर्वाधिक लोकप्रिय है।

'अमरकोश' का एक नाम 'नामलिङ्गानुशासन' भी है। उसे बड़ी वैज्ञानिक विधि से तैयार किया गया है। संस्कृत के आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्रों में उसके अध्ययन का प्रचलन आज भी देश के सभी अंचलों में व्याप्त है।

कात्यायन

परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने कात्यायन को नारद और बृहस्पति की कोटि में परिगणित किया है। धर्मशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र पर लिखे गये उनका कोई

भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; किन्तु अनेक ग्रन्थों में उनके तद्विषयक मत उद्धृत हुए मिलते हैं। इन उद्धरणों को देखकर ज्ञात होता है कि व्यवहार-विधि के क्षेत्र में वे नारद और बृहस्पति के अनुयायी थे।

विभिन्न उत्तरवर्ती संग्रहों में 'कर्मप्रदीप' नाम से संगृहीत ग्रन्थ ही सम्भवतः 'कात्यायनस्मृति' का संक्षिप्त रूप है। उन्होंने धर्म, श्रौत और गृह्य आदि अनेक विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें से कुछ उपलब्ध भी हैं। 'अष्टाध्यायी' के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक वार्तिककार और स्मृतिकार कात्यायन सम्भवतः भिन्न-भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। स्मृतिकार कात्यायन का स्थितिकाल ३००—४०० ई० के आस-पास माना जाता है।

कामन्दक

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य कामन्दक का नाम बहुत लोकप्रिय है। उन्होंने ४०० ई० के लगभग 'नीतिसार' के नाम से एक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की। उसे आचार्य शुक्र कृत 'राजनीति' नामक ग्रन्थ का संस्करण बताया जाता है। मध्ययुगीन टीकाकारों द्वारा उद्धृत उसके अंशों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि 'नीतिसार' का १७वीं श० ई० के लगभग पुनः संस्करण हुआ।

कामन्दक के 'नीतिसार' में धर्म, अर्थ और नीति तीनों विषयों का समन्वय है। 'नीतिसार' का इस दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है कि उसमें पूर्ववर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का उल्लेख किया गया है। कुछ दिन पूर्व कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के सम्बन्ध में जो विवाद चल पड़ा था उसका समाधान करने के लिए 'नीतिसार' के उल्लेखों को प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है। कामन्दक ने स्वयं ही यह माना है कि उनके ग्रन्थ का आधार कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है।

कुल्लूक भट्ट

मध्ययुगीन धर्मशास्त्रकारों में कुल्लूक भट्ट का नाम प्रसिद्ध है। सम्भवतः वे बंगाल के निवासी थे। उनकी प्रसिद्धि उनकी 'मनुस्मृति-टीका' के कारण हुई। इस टीका का नाम 'मन्वर्थमुक्तावली' है। यह टीका सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसी कारण अब तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस टीका का रचना-प्रकार यथासम्भव संक्षिप्त एवं संयत है।

कुल्लूक भट्ट ने अपनी टीका 'मन्वर्थमुक्तावली' की रचना काशी में ११५०—१३०० ई० के बीच की थी।

कौटिल्य

एक निष्णात अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ के रूप में आचार्य कौटिल्य का व्यक्तित्व भारतीय साहित्य में सर्वत्र विश्रुत है। विष्णुगुप्त उनका पितृ प्रदत्त नाम था और चणक का पुत्र होने के कारण उन्हें चाणक्य नाम से भी कहा जाता है। मगध के नन्दवंश का उन्मूलन कर उसके स्थान पर मौर्य साम्राज्य की प्रतिष्ठा कर उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। वे चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५–२७३ ई० पूर्व) के महामन्त्री और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' के निर्माता थे।

कौटिल्य और उनकी महान् कृति 'अर्थशास्त्र' के सम्बन्ध में विद्वानों का बड़ा मतभेद रहा। किन्तु अब यह सुश्चित हो चुका है कि कौटिल्य एक महान् व्यक्ति हुए और उनकी कृति न केवल भारतीय साहित्य में, अपितु विश्व-साहित्य में अपने विषय की अनुपम है। 'अर्थशास्त्र' एक विश्वकोशात्मक रचना है। उसमें धर्म, अर्थ, नीति, शासन, व्यवहार और न्याय आदि अनेक विषयों का गम्भीर एवं प्रौढ़ विवेचन हुआ है। भारतीय साहित्य में उसे एक प्रामाणिक विधि-ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है।

नारद

विभिन्न स्मृति-संग्रहों में नारद का नाम उप स्मृतिकारों की कोटि में गिना गया है। उनकी स्मृति भी प्रकाशित हो चुकी है। उसका आधार 'मनुस्मृति' है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का भी उस पर प्रभाव है। धर्मव्यवहार विषय पर उनके नाम से 'लघुनारदीय' और 'बृहन्नारदीय' दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। मेधातिथि की टीका और 'अग्निपुराण' में उनकी स्मृति के उदाहरण हैं। स्मृति के अतिरिक्त शिक्षा तथा पुराण आदि विषयों पर भी उनके ग्रन्थ मिलते हैं। कहा जाता है कि धर्मवक्ता नारद नेपाल भी गये थे।

उनका समय १००–३०० ई० के बीच माना जाता है। गानविद्या के आचार्य एवं इन्द्र दरबार के प्रसिद्ध महर्षि नारद, धर्मवक्ता नारद से संभवतः भिन्न थे।

भागवत

'भागवत' का नाम अष्टादश महापुराणों में प्रमुख है। अन्य पुराणों की अपेक्षा उसकी लोकप्रियता अधिक है। उसमें बारह स्कन्ध और अठारह हजार श्लोक हैं। 'नारदपुराण', 'पद्मपुराण' और 'मत्स्यपुराण' में 'भागवत' का उल्लेख एवं उसकी विशेषताओं का वर्णन है।

'भागवत' वैष्णव सम्प्रदाय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसमें भगवान् श्रीकृष्ण की कथा वर्णित है। रसिकहृदय भक्तजनों के लिए वह धर्मग्रंथ और वेदान्तियों के लिए गम्भीर वेदान्त-ग्रन्थ है। उसकी रचना ६००–७०० ई० में मानी जाती है।

मनुस्मृति

भारतीय साहित्य और जन-जीवन में 'मनुस्मृति' सर्वोच्च संमानित ग्रन्थों में परिगणित है। भारत की ही नहीं, विश्व की अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद हो चुके हैं। धर्म, कर्म और शासन, तीनों क्षेत्रों में उसकी मान्यताएँ निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार की जाती हैं। वह एक विधि-ग्रन्थ है और परवर्ती धर्मग्रन्थों तथा पुराणों पर उसका व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है।

'मनुस्मृति' को मनु की रचना माना जाता है। मनु का नाम वेदों, पुराणों धर्मग्रन्थों और अन्य अनेक विषय के ग्रन्थों में व्यापक रूप से उल्लिखित है। किन्तु वेदों के उस मनु से, जिसे कि मानव का आदि पूर्वज माना जाता है, 'मनुस्मृति' का रचनाकार मनु भिन्न प्रतीत होता है। आधुनिक इतिहासकारों ने २०० ई० पूर्व से लेकर २०० ई० के बीच 'मनुस्मृति' का रचनाकाल स्वीकार किया है। विद्वानों की यह भी मान्यता है कि 'मनुस्मृति' को 'मानव धर्मसूत्र' का संशोधित रूप मानना केवल कल्पनामात्र है, क्योंकि इस प्रकार के धर्मसूत्र का कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था। 'मनुस्मृति' पर लिखी गयी टीकाओं में कुल्लूक भट्ट की टीका प्रामाणिक मानी जाती है।

याज्ञवल्क्य

महर्षि याज्ञवल्क्य ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे। वे वैदिक ऋषियों की परम्परा में थे। वे एक प्राचीन ऋषि, दार्शनिक और योगी थे। उपनिषदों में उनके विलक्षण पाण्डित्य के प्रमाण सुरक्षित हैं। उनका व्यक्तित्व धर्मवक्ताओं के रूप में भी विश्रुत है। उनके नाम से प्रसिद्ध 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'मनुस्मृति' की ही भाँति लोकप्रिय एवं मान्य है। उसके भी अब तक अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।

'याज्ञवल्क्यस्मृति' की मूल रचना कब हुई इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों के मत में उसका समय १०० ई० पूर्व से ३०० ई० के बीच ही है; किन्तु आज जिस रूप में वह उपलब्ध है, उसके इस वर्तमान संस्करण का समय ७०० ई० माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी स्मृति की रचना करते समय महर्षि याज्ञवल्क्य के सामने 'मनुस्मृति' विद्यमान थी। 'अग्निपुराण'

के साथ भी उसका तारतम्य है। उसके प्रमुख टीकाकारों में विश्वरूप और विज्ञानभिक्षु का नाम उल्लेखनीय है। विज्ञानभिक्षु की टीका 'मिताक्षरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

रामायण-महाभारत

ये दोनों ग्रन्थ मूलतः महाकाव्य और अनेक महाकाव्यों, काव्यों तथा नाटकों के उपजीव्य माने जाते हैं। वे इतिहास भी हैं और पुराण भी; किन्तु भारतीय जनजीवन में उनको जिस रूप में अपनाया गया उससे वे धर्मग्रन्थों के रूप में भी विश्रुत हैं। आदर्श एवं श्रेष्ठ व्यक्तियों की कथाओं से सम्बद्ध होने के कारण उनको धार्मिक प्रेरणा का स्रोत माना गया। उनकी धर्म एवं शासन सम्बन्धी मान्यताओं को स्मृतियों की मान्यताओं की भाँति स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि धर्मशास्त्र और राजनीति विषयों पर विचार करने वाले आचार्यों ने 'रामायण' तथा 'महाभारत' से भी प्रेरणा प्राप्त की और उनके अंशों को प्रामाणिक रूप में उद्धृत किया।

जिस रूप में ये दोनों ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं, विद्वानों के अनुसार उनका समय ५०० ई० पूर्व के लगभग है।

लक्ष्मीधर

धर्मशास्त्रकार लक्ष्मीधर गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र (१२वीं श० ई०) के मन्त्री थे। अतः उनका स्थितिकाल १२वीं शती था। संभवतः वे चण्डेश्वर के समकालीन या उनसे कुछ ही पूर्ववर्ती थे।

उनका 'राजनीतिकल्पतरु' अपने क्षेत्र का बहुप्रचलित अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है, किन्तु वह अधूरा ही उपलब्ध है। संभवतः इस बृहद् ग्रन्थ में धर्मशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन रहा होगा। परवर्ती सभी स्मृतिकारों ने 'कल्पतरु' के उद्धरणों को प्रमाणरूप में उद्धृत कर उसकी वास्तविकता को स्पष्ट कर दिया। सारे भारत के विद्वानों में इस ग्रन्थ की मान्यता एक जैसी है।

वसिष्ठ

इस नाम से अनेक व्यक्तियों का उल्लेख हुआ मिलता है। धर्मशास्त्र के आदि आचार्यों में भी वसिष्ठ का नाम परिगणित है। 'तंत्रवार्तिक' में वसिष्ठ को पुरातन गृह्यसूत्रकार कहा गया है। उनका 'धर्मसूत्र' हस्तलेखों और विभिन्न मुद्रित संस्करणों के रूप में उपलब्ध है। वह ३१ अध्यायों की रचना है। इस 'धर्मसूत्र' पर 'बोधायन धर्मसूत्र' का प्रभाव है। धर्म के विभिन्न अङ्गों का निरूपण होने के अतिरिक्त 'वसिष्ठ धर्मसूत्र' में व्याकरण, मुहूर्त, भविष्य फल और

नक्षत्रविद्या सम्बन्धी विषयों का भी विवेचन हुआ है। मनु ने इस ग्रन्थ के अंशों को अनेक प्रसंगों में प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। धर्मशास्त्र के अतिरिक्त पुराण, तंत्र, शिक्षा और कल्प आदि विषयों पर भी इनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'वृद्धवसिष्ठ' नाम से इनके एक ग्रन्थ का उल्लेख टीकाकार विश्वरूप ने किया है।

विद्वानों के मतानुसार 'वसिष्ठ धर्मसूत्र' का निर्माण ३००–२०० ई० पूर्व के मध्य हुआ।

विष्णु

विष्णु का नाम प्रमुख धर्मसूत्रकारों में है। जाली द्वारा सम्पादित जीवानन्द के 'धर्मशास्त्र संग्रह' में 'विष्णु धर्मसूत्र' के उद्धरण देखने को मिलते हैं। स्वतंत्र रूप से भी उसका प्रकाशन हो चुका है, जिसमें सौ अध्याय हैं। 'वसिष्ठ धर्मसूत्र' से 'विष्णु धर्मसूत्र' की बहुत समानता है। 'मनुस्मृति' से भी उसकी एकता है। विद्वानों का अभिमत है कि 'विष्णु धर्मसूत्र' के आरम्भिक अंशों की रचना १००–३०० ई० के बीच हो चुकी थी और शेष अंशों की रचना ९०० ई० के बाद। इस दृष्टि से प्रस्तुत धर्मसूत्र की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। वाराणसी के नन्द पण्डित ने इस धर्मसूत्र पर १६२२–२३ ई० में 'वैजयन्ती' नाम से एक टीका लिखी।

'अष्टादश स्मृति समुच्चय' में इनकी एक स्मृति प्रकाशित है, जिसमें पाँच अध्याय हैं। 'वृद्ध विष्णुस्मृति' के नाम से भी इनके एक ग्रन्थ का 'संस्कार-कौस्तुभ' में उल्लेख हुआ है।

बृहस्पति

अनेक ग्रन्थों के निर्माता के रूप में बृहस्पति का उल्लेख हुआ है। आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि धर्मशास्त्रकार और अर्थशास्त्रकार दोनों बृहस्पति दो भिन्न व्यक्ति हुए। 'महाभारत', कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थों में जिस अर्थशास्त्रकार बृहस्पति का उल्लेख हुआ है, याज्ञवल्क्य और विज्ञानभिक्षु के धर्मवक्ता बृहस्पति से वे भिन्न हैं। इतिहासकारों की मान्यता है कि धर्मशास्त्रकार बृहस्पति से अर्थशास्त्रकार बृहस्पति बहुत बाद में हुए। बृहस्पति पहले विधिवक्ता थे, जिन्होंने धन (माल या सिविल) और हिंसा (क्रिमिनल या फौजदारी) के व्यवहार में अन्तर्भेद का विधान किया।

'बृहस्पति स्मृति' के अब तक केवल ७११ श्लोक ही उपलब्ध होते हैं। उनसे 'मनुस्मृति' की बहुत समानता है। 'नारद स्मृति' से भी उनकी एकता है।

इनके नाम से अन्य अनेक ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। उनमें से धर्मशास्त्रकार बृहस्पति के कितने ग्रन्थ हैं, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

विभिन्न ग्रन्थों में आये 'बृहस्पति स्मृति' के उल्लेखों के आधार पर उनका स्थितिकाल २००–४०० ई० के बीच माना जाता है।

व्यास

प्रमुख धर्मवक्ताओं में व्यास का भी एक नाम है। उनके नाम से एक स्मृति प्रकाशित है, जिसमें चार अध्याय और ढाई सौ श्लोक हैं। विश्वरूप और मेधा-तिथि आदि टीकाकारों ने भी व्यास के नाम से कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है, जो कि अधिकतर 'महाभारत' के हैं। उनके विचार नारद, कात्यायन और बृहस्पति आदि से मिलते हैं। 'व्यासस्मृति' के अतिरिक्त उन्होंने अर्थशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे थे। पुराणों में व्यास पाराशर्य और व्यास को एक ही व्यक्ति बताया गया है। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

स्मृतिकार व्यास का स्थितिकाल विद्वानों ने ५००–४०० ई० पूर्व के आस-पास निर्धारित किया है।

शुक्र

पुराणों में महर्षि शुक्र को महर्षि व्यास पाराशर्य का पुत्र या शिष्य कहा गया है। व्यास से ही उन्हें वेद, पुराण, धर्म, आचार और तत्त्वविद्या की शिक्षा प्राप्त हुई थी। बृहस्पति को भी उनका एक गुरु कहा गया है। पुराणों में उनके तपःपूत व्यक्तित्व की बड़ी प्रशंसा की गयी है। वे बड़े त्यागी, निःस्पृह और विरक्त स्वभाव के थे।

'महाभारत' में 'शुक्रानुप्रश्न' नामक उपाख्यान में शुक्र-व्यास का प्रश्नोत्तर आया है। वे धर्मवक्ता और नीतिज्ञ भी थे। 'शुक्र नीति' के नाम से उनके ग्रन्थ का उल्लेख देखने को मिलता है। परवर्ती ग्रन्थों में भी उनके अर्थ एवं राजनीति विषयक मतों का उल्लेख हुआ है। इस आधार पर पता चलता है कि उन्होंने राजनीति एवं अर्थशास्त्र पर अवश्य ही कोई ग्रन्थ लिखा था। उनका स्थितिकाल २०० ई० पूर्व से २०० ई० के बीच माना जाता है।

श्रीकर

श्रीकर संभवतः मिथिलावासी थे। मिताक्षरा और उसके बाद के धर्मशास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थों में श्रीकर का नाम उद्धृत हुआ है। उनके नाम से कोई

स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने किसी स्मृति-ग्रन्थ पर कोई भाष्य या निबन्ध लिखा था। उन्हें स्मृतियों के निबन्धों का सम्पादक भी कहा जाता है।

विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत उनके राजनीति तथा धर्म-विषयक मन्तव्यों को देखकर स्पष्ट होता है कि अपने विषय के वे प्रतिष्ठित आचार्य थे। चण्डेश्वर के 'राजनीतिरत्नाकर' और उसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में श्रीकर का नामोल्लेख होने के कारण ८००–१०५० ई० के बीच उनका स्थितिकाल माना गया है।

हारीत

आचार्य हारीत का 'धर्मसूत्र' सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। किन्तु वसिष्ठ, बौधायन, आपस्तम्ब और अन्य विभिन्न स्मृतिकारों ने उनके धर्मसूत्र के अंश उद्धृत किये हैं। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने धर्म विषय पर किसी सूत्र-ग्रन्थ का निर्माण किया था। वैसे भी 'तंत्रवार्तिक' आदि परवर्ती ग्रन्थों में उन्हें धर्मसूत्रकारों की श्रेणी में गिना गया है। 'लघु हारीत स्मृति' और 'वृद्ध हारीत स्मृति' नाम से उनके दो ग्रन्थ प्रकाशित हैं। उनके नाम से एक शिक्षा-ग्रन्थ भी प्राप्त है। इस नाम के अनेक ग्रन्थकार हो चुके हैं।

विद्वानों की मान्यता है कि हारीत काश्मीरी थे और उनका स्थितिकाल ४००–७०० ई० के बीच था।

श्री जानकी विवाह पंचमी
वि० सं० २०२६

—अनुवादक

विषय-सूची

राजनीति-रत्नाकरः

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथमस्तरङ्गः

मंगलाचरण

सूत्रामान्धकयमोर्विवादमनिशन्दृष्ट्वा जिगीष्वोरहं
राजेत्येव मिथः पुरा निगदतोरग्नीक्षणप्रेक्षणात् ।
योऽसौ निर्णयति स्म सम्प्रति शिवः पायात्परात्परः
स स्मेराचलकन्यययाऽप्यनुमतो[1] ब्रह्मादिभिः प्रार्थितः ॥

पूर्वकाल में 'मैं राजा हूँ तो मैं राजा हूँ' इस प्रकार परस्पर बोलते हुए विजयाभिलाषी सूत्रामा और अन्धक नामक असुरों का दिनरात चलने वाला युद्ध देखकर ब्रह्मा आदि देवताओं के प्रार्थना करने पर तथा मुसकराती हुई पार्वती जी के अनुमोदन करने पर जिन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोलकर तत्काल दोनों असुरों का वारा-न्यारा कर दिया, वे परात्पर भगवान् शंकर हमारी रक्षा करें ।

विषयों का क्रम-निरूपण

राज्ञा भवेशेनाज्ञप्तो राजनीतिनिबन्धकम् ।
तनोति मन्त्रिणामार्यः श्रीमान् चण्डेश्वरः कृती ॥

राजा भवेश की आज्ञा पाकर मंत्रियों में श्रेष्ठ श्रीमान् चण्डेश्वर पण्डित राजनीतिक निबन्ध का विस्तार करते हैं ।

राज्ञो निरूपणश्चादावमात्यस्य तदुत्तरम् ।
ततः पुरोहितादेश्च प्राड्विवाकस्य तुर्यके ॥

(इस निबन्ध-ग्रन्थ के) पहले तरंग में राजा का, दूसरे में मंत्री का, तीसरे में पुरोहित आदि का और चौथे में धर्माध्यक्ष या न्यायाधीश का निरूपण किया गया है ।

---

१ अनुमतमिति पुस्तकान्तरेषु ।

सभ्यस्य पञ्चमे चैव षष्ठे दुर्गस्य सप्तमे ।
मन्त्रणा[1] कार्यदेशादेः कोषस्य तदनन्तरम्[2] ॥

पाँचवें तरंग में सभासदों का, छठे में किले का, सातवें में कार्य और देश आदि के सम्बन्ध में की जाने वाली मंत्रणा का और आठवें में कोष (खजाने) का निरूपण हुआ है ।

बलस्य नवमे चैव सेनान्यो दशमे तथा ।
एकादशे दूतचारप्रती[3]हारादिकस्य तु ॥

नवें तरंग में सेना का, दसवें में सेनापतियों का और ग्यारहवें में दूत, गुप्तचर तथा द्वारपाल आदि का निरूपण हुआ है ।

द्वादशे राजकृत्यस्य[4] दण्डस्याथ त्रयोदशे ।
अथ राज्यप्रदानस्य महीपेन चतुर्दशे ॥

बारहवें तरंग में राजा के कार्य का, तेरहवें में दंडविधान का और चौदहवें में राजा द्वारा दिये जाने वाले राज्य का निरूपण हुआ है ।

पुरोधसा[5] पञ्चदशे तत्कुलीनाय धर्मतः ।
षोडशे चाभिषेकस्य विचार्याकारि यत्नतः ॥

पन्द्रहवें तरंग में पुरोहित द्वारा कुलीन को (अर्थात् वंश-क्रम से धर्मपूर्वक प्राप्त करने वाले ज्येष्ठ पुत्र को) राज्य दिये जाने का और सोलहवें में राज्याभिषेक का निरूपण यत्नपूर्वक विचार करके किया गया है ।

एवं रत्नाकरे चास्मिन् तरङ्गाः षोडशोदिताः ।
निरीक्ष्य नीतिशास्त्राणि श्रीचण्डेश्वरमन्त्रिणा ।

इस प्रकार मंत्री श्री चण्डेश्वर ने नीति-शास्त्रों का अनुशीलन करके इस राजनीति-रत्नाकर में सोलह तरंग (उच्छेद) बताये हैं ।

राजार्थशास्त्रं राजनीतिः ॥

राजा का अर्थशास्त्र राजनीति कहलाता है । [प्राचीन काल में राजनीति को अर्थशास्त्र और दण्डनीति भी कहते थे ।]

---

१ मन्त्रिणा (घ) (ङ) २ तदन्तरम् (घ) (ङ)
३ प्रतिहारादिकस्य तु (ङ) ४ शत्रुवर्गस्य (घ) (ङ)
५ पुरोधसां (ग)

तत्र प्रथमं राज्ञो निरूपणम् ।

उसमें पहले राजा का निरूपण किया जाता है।

मनुः—

'अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः' ॥[१]

मनुने कहा है—

इस संसार में राजा के न रहने पर सब ओर विप्लव मच जाता है। इस लिये ईश्वर ने सबकी रक्षा करने के लिए राजा की सृष्टि की।

राजानमित्यस्य राजमात्रे तात्पर्यं विशेषानभिधानात् । असृजदिति क्रियामात्रं काल उपलक्षणम् ।

उक्त श्लोक में 'राजानम्' पद का तात्पर्य राजा मात्र से है, क्योंकि विशेष पद का कथन नहीं किया गया है (जिससे यह समझा जाय कि किसी विशेष राजा की सृष्टि की)। 'असृजत्' यह क्रिया काल मात्र (तीनों काल) का उपलक्षण (बोधक) है (भाव यह है कि ईश्वर प्रजा की रक्षा करने के लिए राजाओं की सृष्टि की, करते हैं और करते रहेंगे)।

'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।[२]
सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा' ॥[३]

राजा के धर्मों का वर्णन करूँगा कि राजा का आचरण कैसा हो, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है और उसे परम सिद्धि का लाभ कैसे मिलता है।

इत्यादि प्रागविशेषेणो[४]पादानात्[५] । तथा च प्रजारक्षको राजेत्यर्थः । ननु प्रजाऽरक्षकस्य[६] वेणादेः कथं राजत्वमिति चेन्न । दृष्टतद्योग्यताया[७] एव विवक्षितत्वात् । अत एव कुल्लूकभट्टः[८] राज-

---

१ म० ।७।३। २ भवेन्नरः (घ) (ङ)
३ म० ।७।१।
४ प्राग्विशेषेण (क) (ग) । परागविशेषेण (ङ)
५ उपादानाच्च (घ) ६ प्रजारक्षकस्य (घ) (ङ)
७ तद्योग्यतया (ङ) ८ कुल्लूभट्टः (घ) (ङ)

शब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिपरः[1] किन्त्वभिषिक्तजनपदपालयितृपुरुषपरः'। राजनीतिकामधेनौ 'राज्याभिषिक्तो राजा प्रजापालनादेस्तदीयत्वात् तत्प्राक् ज्ञानासंभवाच्चेति'; प्रजापालने प्रवृत्त इति बहवः। वस्तुतस्तु प्रजापालनप्रवृत्त्यभिषेकादयोऽस्य कारणमात्रं प्रजास्वामित्वे राजत्वेन प्रसिद्धो राजा; 'केवलशौर्याद्याप्तराज्यस्य-राजत्वव्यवहारादिति' गुरवः[2]।

'अराजके' से पूर्व आये हुए 'राजधर्मान्' आदि श्लोक में सामान्य रूप से राजन् शब्द का ग्रहण किया गया है (किसी विशेष राजा के लिए 'राजन्' शब्द प्रयुक्त नहीं है)। अतएव राजा का अर्थ हुआ—प्रजा की रक्षा करने वाला। इस पर आशंका की जा सकती है कि वेण आदि तो प्रजा के रक्षक नहीं हुए, तब वे राजा कैसे कहलाये? इसका उत्तर यह है कि राजा होने की योग्यता जिसमें देखी जाय वह राजा है, ऐसा ही अर्थ वहाँ विवक्षित है। (वेण आदि में भी राजा होने की योग्यता थी, इसलिए राजा कहलाये)। अतएव कुल्लूकभट्ट ने भी कहा है—'राजन् शब्द भी यहाँ क्षत्रियजाति का बोधक नहीं है, किन्तु जनपदों का पालन करने वाले राज्याभिषिक्त पुरुष को राजा कहा गया है।' राजनीतिकामधेनु नामक ग्रन्थ में कहा है—'राज्य में जिसका अभिषेक किया गया हो वह राजा है, क्योंकि प्रजा-पालन आदि राजा का कार्य है और मूर्धाभिषेक से पहले उसे प्रजापालन का अनुभव भी संभव नहीं है (इसलिए प्रजापालनार्थ जिसका मूर्धाभिषेक हो वह राजा है, यह फलितार्थ हुआ)। बहुतों का मत है कि जो व्यक्ति प्रजा-पालन में लगा हो, वह राजा है। वस्तुतः प्रजापालन में प्रवृत्त होने के लिए अभिषेक आदि तो इसका कारणमात्र है। प्रजा के स्वामी होने में राज-गुणों से प्रख्यात व्यक्ति ही राजा है। केवल पराक्रम आदि से राज्य को प्राप्त करने वाला व्यक्ति राजा कहलाने योग्य है—यह हमार गुरु का मत है।

विशेषलक्षणान्याह याज्ञवल्क्यः[3]—

याज्ञवल्क्य मुनि ने राजा के विशेष लक्षण बतलाये हैं—

---

१ म. ।७।१। कु० क्षत्रियजातिवचनः। किन्त्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपुरुषवचनः।

२ ये चण्डेश्वर के गुरु थे। १६ वें तरंग में 'मद्गुरुपद्धतौ' भी देखिए।

३ या० ।१।३०९-१०।

'महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ।
विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक् शुचिः ॥
अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित् ॥'

राजा महान् उत्साही, स्थूल लक्ष्य वाला, कृतज्ञ (उपकार को मानने वाला), वृद्धों की सेवा करने वाला, विनम्र, पराक्रम से सम्पन्न, कुलीन, सत्य भाषण करने वाला, पवित्र, फुर्ती से काम करने वाला, स्मरण शक्ति वाला, क्षुद्रता से रहित, कोमल, धार्मिक, व्यसनों से रहित, विद्वान्, वीर तथा रहस्य जानने वाला हो।

अचिरक्रियः अदीर्घसूत्रः इत्यादिलक्षणं प्रशंसापरम् । स्मृति-पुराणादौ सपापनृपस्य नरकविधानात् ॥ अभिषेककाले प्रथम-परीक्षार्थमिति बहवः ।

ऊपर के श्लोको में 'फुर्ती से काम करने वाला' इत्यादि लक्षण प्रशंसापरक है। राजा को धार्मिक होना आवश्यक है, क्योंकि स्मृतियों, पुराणों आदि में पापी राजा के लिए नरक का विधान किया गया है। बहुतों का कहना है कि अभिषेक के समय पहले राजा की परीक्षा कर लेनी चाहिए (कि उसमें ये सब गुण हैं या नहीं)।

राजा त्रिविधः, सम्राट् सकरोऽकरश्च । तदाह नीतौ नारदः[१] ।

राजा तीन प्रकार का होता है—सम्राट्, कर देने वाला और कर न देने वाला। जैसा कि नारद मुनि ने नीति-ग्रन्थ में कहा है—

'राजानमविशेषेण निजगाद मनुः पुरा ।
विशेषेणैव वक्ष्यामि संशयो न यथा भवेत् ॥
राजा तु त्रिविधो ज्ञेयस्सम्राट् च सकरोऽकरः ।
सर्वेभ्यः क्षितिपालेभ्यो नित्यं गृह्णाति वै करम् ॥
स सम्राडिति विज्ञेयश्चक्रवर्ती स एव हि ।
मासि मासि करन्दद्यात्प्रत्यब्दञ्च तथैव च ॥
सकरः स तु विज्ञेयो राजलक्षणसंयुतः ।

---

१ यह पाठ नारदस्मृति में नहीं मिलता इससे मालूम होता है कि कोई नारदीय अर्थशास्त्रग्रन्थ धर्मशास्त्र से भिन्न है।

करं सन्देशव्याजेन यो ददाति हि स्वेच्छया ।
अधीश्वरन्तमेवाहुः शास्त्रे शास्त्रविदो जनाः ॥'

पहले मनु ने राजा का सामान्य रूप से लक्षण किया था। मैं विशेष रूप से ही बताऊंगा ताकि किसी प्रकार का सन्देह न रह जाय। राजा तीन प्रकार का होता है—सम्राट्, करदाता और अकरदाता। जो सभी राजाओं से नित्य कर लेता है, उसे सम्राट् समझना चाहिए और वही चक्रवर्ती भी है। जो प्रत्येक मास में और प्रत्येक वर्ष में कर देता है, वह राजा के लक्षण से युक्त करदाता कहलाता है। जो उपहार के बहाने अपनी इच्छा से कर देता है, उसे शास्त्र के जानकार लोगों ने शास्त्र में अधीश्वर (या कर न देने वाला) कहा है।

महाभारते—

महाभारत नामक ग्रन्थ में (भी) कहा है—

'इन्द्रादनवरः श्रीमान् देवैरपि सुदुर्जयः ।
तस्य सर्वे महीपाला वर्तन्ते स्म वशे सदा ।
स हि सम्राडभूत्तेषां वित्तेन च बलेन च ॥
पारावारमभिव्याप्य शासना यस्य नान्यथा ।
तस्याधीनास्तु विज्ञेया राजानश्च अधीश्वराः[1] ॥'

इन्द्र से श्रेष्ठ राजा देवताओं से भी अपराजेय हुआ। उसके वश में सभी राजा लोग नित्य रहने लगे। वही धन और बल के कारण उन सबका सम्राट् हुआ। समुद्र पर्यन्त जिसका शासन अनुल्लंघ्य था, उसके अधीनस्थ राजा लोग अधीश्वर कहलाये।

तथा च सकलराजेभ्यो यः करग्राही स[2] सम्राट्। सम्राजे करदो यः स सकरः। स्वेच्छया करदोऽकरः। स्मृत्यादावमी[3] राजत्वेन प्रख्याता, लोके तु राजेति सकरः चक्रवर्ती सम्राट् अधीश्वरो महाराज इति प्रसिद्धः, विशेषप्रतिपत्त्यनुरोधात्; परन्तु त्रयाणामपि धर्मं सममेव विशेषानभिधानात्। तथा च मनुः[4]—

---

१ म० भा० । आश्व० प० ।४।१७, १८ मुद्रित ग्रन्थों में 'पारावारमभिव्याप्य' इत्यादि श्लोक नहीं मिलता है।

२ नास्ति (घ)

३ 'स्मृतादावमी' इति पुस्तकान्तरेषु ।

४ म० ।६।४-६, ९ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि सभी राजाओं से जो कर ले, वह सम्राट् है। सम्राट् को जो कर दे, वह करदाता है। और स्वेच्छा से जो कर दे, वह अकरदाता है। स्मृति आदि ग्रन्थों में ये सब राजा के नाम से प्रसिद्ध हैं, किन्तु लोक में जिनकी जैसी स्थिति होती है, तदनुसार करदाता राजा, चक्रवर्ती सम्राट् और अधीश्वर (अकरदाता) महाराज नाम से प्रसिद्ध होते हैं। परन्तु तीनों का धर्म समान ही है; क्योंकि शास्त्रों में इनका धर्म अलग-अलग नहीं बताया गया है। जैसा कि मनु कहते हैं—

'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां[1] मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैव[2] चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्[3] ।
कुलं दहति राजाग्निस्सपशुद्रव्यसञ्चयम्[4] ॥'

जिसलिए इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, और कुबेर—इन श्रेष्ठ देवों का सारभूत अंश लेकर राजा का निर्माण किया गया है, इसलिए यह (राजा) सब प्राणियों को (अपने) तेज से परास्त करता है। यह सूर्य के समान (लोगों के) नेत्र और मन को चका-चौंध में डाल देता है। पृथ्वी पर कोई भी उसे आँख उठाकर नहीं देख सकता है। अग्नि असावधानी से अपने पास आने वाले मनुष्य को एकमात्र जलाता है, किन्तु राजा रूपी अग्नि पशु और द्रव्य-समूह सहित उसके कुल को जला डालता है।

व्यासः—

'पर्जन्य इव लोकानामाधारः पृथिवीपतिः' ॥[5]

मेघ के समान राजा लोगों का आश्रय होता है।

---

१ नरेन्द्राणामिति (क) २ म० । एषः ।

३ एक एवेति द्विरुपसर्पिणमिति च पुस्तकान्तरेषु ।

४ सञ्चयान् (घ) (ङ) ५ मुद्रित व्यासस्मृति में यह नहीं है ।

राजनीतिकामधेनौ। अधीश्वरो द्विविधः 'शौर्यादकरः सम्राडनुग्रहादकरः। आद्यः स्वेच्छयैव दण्डादिं ददाति। द्वितीयोऽप्यनुग्रहात्। 'अकरस्तु स्वयं सर्वं, यदि सम्राडनुग्रहः। तदा न्यायपथेनैव, कुरुते रिपुसूदने'ति स्मृतेः। द्वितीयाभिप्राये-णेदम्; आद्यश्शमार्थं सन्देशव्याजेन किञ्चित्करं ददाति। सकरोऽपि द्विविधः अधिकृतदण्डादिरनधिकृतदण्डादिः। आद्यस्य[१] न्याये पुनर्न्यायस्तेन कृतो दण्डो[२] न निवर्तते, द्वितीयस्य न्यायेऽधिकारो दण्डे नाधिकारः। न्यायस्य पुनर्न्यायोऽपि। यदि हठात्कारेण विरुद्धाना[३]चरति तदा साहसे यथासाहसं धनग्रहण-[४]दण्डोऽसाहसे तत्समीपं गते प्रसादकरमनादाय दिन-द्वयं दिनत्रयं वा स्वदर्शनं न कारयतीति तिरस्कारः सम्राजा[५] करणीयः।

तत्प्रजासु तत्कृतं सम्राजाऽनिवर्त्यम्। 'अस्वतन्त्राः प्रजाः सर्वाः स्वतन्त्रः पृथिवीपतिरि'ति नारदीयात्[६]। अस्याप्यत्रैव तात्पर्यं, सम्राडादौ तदसंभवात्। सम्प्रदायोऽपि तथैवेति[७]।

राजनीतिकामधेनु नामक ग्रन्थ में अधीश्वर (कर न देने वाला राजा) दो प्रकार का बताया गया है—वीरता के कारण कर न देने वाला एक है और सम्राट् की कृपा के कारण कर न देने वाला दूसरा है। पहला अपनी इच्छा से दंड आदि देता है और दूसरा भी (सम्राट्) के अनुग्रह के बल से दंड आदि देता है। स्मृति भी कहती है—'यदि सम्राट् का अनुग्रह हो तो हे शत्रु-पीडक! अकरदाता (राजा) न्याय के मार्ग से स्वयं ही सब कुछ कर लेता है'। यह स्मृति अधीश्वर के दूसरे भेद को पुष्ट करती है। अधीश्वर का पहला भेद शान्ति के लिए उपहार के बहाने थोड़ा कर दे देता है। सकर (करदाता राजा) भी दो

---

१ आद्यस्य पुनर्न्यायः (क) २ कृतदण्डो न निवर्तते (घ)

३ विरुद्धमिति (ख) (घ) (ङ)

४ धनग्रहणमिति (ख) ५ साम्राज्ञा (घ)

६ ना० स्मृ०। ऋणादान प्र०।३३।

७ 'तथैवेतीति' (क) (ग)

प्रकार का होता है—एक वह जिसे दंड आदि देने का अधिकार हो और दूसरा वह जिसे दंड आदि देने का अधिकार न हो। पहले (दण्डाधिकारी) के द्वारा किये गये न्याय (फैसले) पर पुनः न्याय किया जा सकता है, किन्तु उसके द्वारा दिया गया दंड (सजा) नहीं रुकता है। दूसरे (अदण्डाधिकारी) को न्याय करने का अधिकार तो है पर दंड देने का अधिकार नहीं है और उसके द्वारा किये गये न्याय पर पुनः न्याय किया जा सकता है। यदि वह बलपूर्वक इसके विपरीत आचरण करता है तो जैसा वह साहसिक कार्य किये रहता है तदनुसार उसे धन दंड में देना पड़ता है और कोई साहसिक कार्य न करके साधारण गड़बड़ी करने पर जब वह सम्राट् के पास जाता है तब सम्राट् उससे प्रसाद कर (प्रसन्न करने के लिए दिया जाने वाला कर) न लेकर दो दिन या तीन दिन तक अपना दर्शन नहीं देता है। यही उसका अपमान सम्राट् द्वारा किया जाना चाहिए। उसकी प्रजाओं के प्रति उसके द्वारा किये गये दंड आदि को सम्राट् न रोके। क्योंकि नारदीय स्मृति कहती है—'प्रजायें पराधीन होती हैं और राजा स्वाधीन होता है।' यह स्मृति-वचन भी सकर राजा के सम्बन्ध में ही लागू होता है, सम्राट् आदि में उसका लागू होना असंभव है (क्योंकि सम्राट् का साक्षात् सम्बन्ध प्रजाओं से न होकर प्रजाशासक राजाओं से रहता है)। सम्प्रदाय भी यही कहता है।

अमीषां साधारणधर्मानाह मनुः[1]—

इन राजाओं के साधारण धर्मों को मनु ने इस प्रकार बताया है—

'ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत्तेषाञ्च शासने ॥
वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं [2]रक्षोभिरभिपूज्यते ॥
तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥
बहवोऽविनयान्नष्टा राजानस्सपरिच्छदाः।
वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥

---

१ म० ।७।३७-४२। २ रक्षाभिरिति पुस्तकान्तरेषु।

वेणो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव[1] सुमुखो निमिरेव[2] च॥
पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्नुयान्मनुरेव[3] च।
कुबेरस्तु धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यञ्चैव गाधिजः॥

राजा प्रातःकाल उठकर तीनों वेदों के ज्ञान में श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा करे और उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य करे। वह वेदज्ञ, पवित्र एवं वयोवृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे। क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वाला व्यक्ति राक्षसों (दुष्टात्माओं) से भी सदा पूजित होता है। विनय-सम्पन्न होने पर भी राजा नित्य उन ब्राह्मणों से विनय की शिक्षा ले। क्योंकि विनम्र राजा कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता है। अविनय के कारण बहुत से राजा अनुचर, सैनिक आदि सहित नष्ट हो गए; किन्तु विनय के कारण अनेक राजाओं ने वन ही में रहकर राज्यों को प्राप्त कर लिया। राजा वेण, नहुष, सुदा, पैजवन सुमुख और निमि अविनय के कारण ही नष्ट हुए थे। जब कि विनय के प्रभाव से पृथु और मनु ने राज्य प्राप्त किया, कुबेर ने धन-ऐश्वर्य तथा विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया।

याज्ञवल्क्यः—

याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा है—

'अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं[4] योऽभिवर्धयेत्।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः'॥[5]

जो राजा राष्ट्र से अन्यायपूर्वक धन लेकर अपना कोश (खज़ाना) बढ़ाता है, वह शीघ्र ही श्रीहीन होकर बंधुओं सहित नाश को प्राप्त होता है।

विनयः सुनीतिः सुशीलमिति केचित्।

विनय को उत्तम नीति और सुन्दर स्वभाव कोई मानते हैं।

मनुः[6]—

मनु ने कहा है—

---

१ सुन्दापैर्जवनश्चैव (क) (ख) (ग) (ङ)। सुन्दाः (घ)

२ नेमिः (क) (ग) (ङ)। नैमिः। मानवे। निमिः (ख)।

३ प्राप्तावन् (घ) (ङ)

४ स्वकांशं (घ) (ङ)

५ या० ।१।३४०।

६ म० ।७।४३-४८।

'त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां[1] दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीञ्चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च[2] लोकतः' ॥

राजा तीनों वेदों के जानने वालों से तीनों वेद, सनातन दण्डनीति (अर्थशास्त्र), तर्कशास्त्र और वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करे तथा खेती, व्यापार आदि को लोकव्यवहार से (अर्थात् तत्तत् विषयों के जानकारों से) सीखे ।

त्रयीमृग्यजुस्सामवेदान् आन्वीक्षिकीं तर्कविद्याम् आत्मविद्यां वेदान्तम् ; वार्त्ता कृषिवाणिज्यादि शिक्षेतेत्यर्थः ।

[उपर्युक्त श्लोक में आये हुए शब्दों का अर्थ करते हैं—] त्रयी=ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, आन्वीक्षिकी=तर्कशास्त्र, आत्मविद्या=वेदान्त शास्त्र, वार्त्ता=खेती, व्यापार आदि को सीखे ।

'[3]इन्द्रियाणाञ्जयेद्योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे[4] स्थापयितुं प्रजाः ॥'

दिन-रात अपनी इन्द्रियों को जीते तथा योगाभ्यास करे; क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओं को वश में रख सकता है ।

इन्द्रियाणां दुष्टविकारञ्जयेदित्यर्थः ।

ऊपर 'इन्द्रियाणाञ्जयेत्' का अर्थ है—इन्द्रियों की बुरी प्रवृत्ति को जीते ।

'दश कामसमुच्छ्राणि[5] तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्' ॥

काम से उत्पन्न दस दुर्व्यसनों और क्रोध से उत्पन्न आठ दुर्व्यसनों को यत्नपूर्वक त्याग दे ।

अष्टादश व्यसनानि त्यजेत् तद्धेतुमाह—

उक्त अठारह प्रकार के व्यसनों का त्याग करे इसका कारण मनु ने यह कहा है—

'कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
[6]वियुज्यतेऽर्थकामाभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥

१ मनावपि विद्यां (घ) (ङ) २ वार्त्तारम्भाश्च (ङ)
३ मानवे तु 'इन्द्रियाणाञ्जये' इति पाठ उपलभ्यते ।
४ रणे (ख) (ङ) ५ म० । समुत्थानि ।
६ विसृज्यते (ङ) म० । अर्थधर्माभ्यां ।

मृगयाक्षा[1] दिवास्वप्नः परिवादस्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डश्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणो[2]ऽष्टकः ॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च कष्टं व्यसनमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः[3] ॥

जो राजा काम से उत्पन्न हुए व्यसनों में आसक्त होता है, वह अर्थ तथा धर्म से छूट जाता है। और क्रोध से उत्पन्न हुए व्यसनों में आसक्त राजा अपने आप को ही नष्ट कर डालता है। १. शिकार खेलना, २. जुआ खेलना, ३. दिन में सोना, ४. दूसरों की निन्दा करना, ५. स्त्रियों का सेवन करना, ६. नशा करना, ७. नाचना, ८. गाना, ९. बजाना और १०. व्यर्थ घूमना--ये काम से उत्पन्न दस व्यसन हैं। १. चुगलखोरी, २. बुरे कार्यों में साहसिक प्रवृत्ति, ३. द्रोह, ४, ईर्ष्या, ५. दूसरे के गुणों में दोष दिखाना, ६. अग्राह्य द्रव्य लेना और देय द्रव्य न देना, ७. कटु भाषण और ८. कठोरता—ये आठ व्यसन क्रोध से उत्पन्न हाते हैं। व्यसन और मृत्यु दोनों में व्यसन ही अधिक कष्टदायी है, क्योंकि व्यसनी पुरुष निरन्तर पतन की ओर जाता है और व्यसन-रहित पुरुष मरणोपरान्त स्वर्ग जाता है।

तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं, वृथाट्या विफलभ्रमणं, साहसं वधादि, वाग्दण्डश्च[4] वाक्पारुष्यम्, एष्वष्टादशव्यसनेष्वतिप्रसक्तिरेव निषिद्धा, न तु तत्सम्बन्ध एव राज्ञस्तद्विधेः। याज्ञवल्क्यः[5]।

ऊपर के श्लोकों में आये शब्दों के अर्थ—तौर्यत्रिक=नाचना, गाना और बजाना। वृथाट्या=बेकार घूमना, साहस=हत्या आदि करना, वाग्दण्ड=वाणी की कठोरता (कटुभाषण) उक्त अठारह प्रकार के व्यसनों में आसक्त होना ही वर्जित है न कि इनका सम्बन्ध ही निषिद्ध है; क्योंकि राजा के लिए सामान्य रूप से इनका उपयोग करना विहित है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा है—

---

१. मृगयाक्ष इति मेधातिथिः।

२. गुणो० (क) (ख) (ग)। म० वाग्दण्डजं पारुष्यमिति।

३ म० ।७।५३।

४ वाग्दण्डश्च पारुष्यं (घ) (ङ)

५ या० ।१।३१९, ३१७, ३११।

[1]पटे ताम्रपदे वापि[2] स्वमुद्रोपरिचिह्नितम् ।
अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानञ्च महीपतिः ॥
अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत् ।
पालितं [3]वर्धयेन्नित्यं वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥
स्वरन्ध्रगोप्तान्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यान्तथैव च ।
विनीतस्त्वर्थवार्त्तायां [4]त्रय्याञ्चैव नराधिपः ॥

राजा वस्त्र या ताम्रपत्र में अपने पूर्वजों के नाम तथा अपना नाम लिखवाकर उसके ऊर्ध्व भाग में अपने सिक्के का चिह्न अंकित करा दे या अपनी मुहर लगवा दे। वह धर्मोपायों द्वारा धन प्राप्त करने की चेष्टा करे, धन प्राप्त हो जाने पर उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे, सुरक्षित धन को नित्य बढ़ावे और बढ़े हुए धन को सुपात्रों में वितरित कर दे। राजा अपने छिद्रों को गुप्त रखे और तर्कविद्या, अर्थविद्या, कृषि-वाणिज्य आदि और तीनों वेदों का ज्ञान प्राप्त करे।

मनुः[5]—

मनु ने कहा है—

'अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥
एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य सम्यगनुष्ठानं नित्यं कुर्यादतन्द्रितः[6] ॥'

(राजा को चाहिए कि वह) जो भूमि, रत्न आदि अपने को प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करने की इच्छा करे, पाये हुए धन की यत्नपूर्वक रक्षा करे, सुरक्षित धन को बढ़ाने की चेष्टा करे और बढ़े हुए धन को सुपात्रों में बाँट दे। उक्त (अलब्ध की प्राप्ति आदि) चारों पदार्थों को

---

१ पट्टे (घ) (ङ)   २ या० । पटे वा ताम्रपत्रे वा इति ।
३ या० । वर्धयेन्नीत्या इति ।
४ तर्याञ्चैव (क) (ग) । सदा चैव (ख) (घ) (ङ)
५ म० ।७।९९, १००।
६ म० । अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यगिति । अतन्द्रितः (घ) (ङ)

पुरुषार्थ का साधन समझे और आलस्यरहित होकर नित्य उनका सम्पादन करे।

स्वनामाङ्कितमुद्रया स्वपत्रमात्रमङ्कयेत्। धनागमसमीहा धनपालनवर्धनानि कुर्यात्। पात्रेषु विश्वासपात्रेषु निःक्षिपेत्, अतन्द्रितः[1] निरालसः, धर्मेणेति सर्वत्रान्वयः। 'धर्मेण दण्डविजयकरादिना वृद्धं भोगाद्युर्वरितं धनन्दानाय भुक्तये[2]' इति स्मृतेः। 'वृद्धं [3]व्यावहारिकधनादि'ति नीतिकल्पतरुः।

(राजा) अपने नाम से अंकित मुहर से अपने सभी पत्रों को टंकित करावे। धन-प्राप्ति की इच्छा, धन की सुरक्षा तथा वृद्धि करे (बढ़ा हुआ धन) पात्रों अर्थात् विश्वासपात्रों को सौंप दे। अतन्द्रित=आलस्यरहित होकर और धर्मपूर्वक सब कार्य करे। स्मृति कहती है—'दंड, विजय और कर आदि के द्वारा धर्मपुरस्सर बढ़ाया हुआ तथा विनियोग के द्वारा समृद्ध किया हुआ धन दान तथा भोग के काम में लगावे'। नीतिकल्पतरुकार का मत है कि 'धन को व्यवहार (लहना, व्यापार आदि) के द्वारा बढ़ावे'।

अध्यास्योद्वाहयेद् भार्यां[4] सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्॥
कन्यानां सम्प्रदानञ्च कुमाराणाञ्च रक्षणम्[5]।
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्[6]॥

[दुर्ग का निर्माण करने के उपरान्त] उसमें निवास करता हुआ राजा ऐसी कन्या से विवाह करे, जो अपनी जाति की, संभ्रान्त कुल की, शुभ लक्षणों से युक्त और सौन्दर्य एवं गुणों से विभूषित हो। (तदुपरान्त वह) राजकुमारियों का विवाह और राजकुमारों की रक्षा का प्रबंध करे। राष्ट्र की रक्षा और समृद्धि के लिए वह विधि-ग्रंथों में कहे गये उपायों का आचरण करे।

सवर्णां सजातीयां, लक्षणान्वितां धर्मशास्त्रोक्तलक्षणान्वितां, रूपगुणान्वितां सामुद्रिकलक्षणलक्षितां, कन्यामुद्वहेत्, कन्यादानं

---

१ अतन्त्रितः निरालस्यः (ङ)
२ भक्तये (क)   ३ व्यवहारिक० इत्यशुद्धः पाठः (ङ)
४ म० ।७।७७। तदध्यास्योद्वहेद् भार्यामिति म०। अध्याप्योद्वहयेद्भार्यां (ङ)
५ म० ।७।१५२।   ६ म७ ।७।११३।

कुमाररक्षणं कार्यं, राष्ट्रसंग्रहे इदमवश्यमेव[1] कार्यमित्यर्थः ।

[ऊपर के श्लोकों में आये हुए शब्दों के अर्थ—] सवर्णां= अपनी जाति की, लक्षणान्वितां=धर्मशास्त्र में कहे हुए शुभ लक्षणों से युक्त, रूपगुणान्वितां=सामुद्रिकशास्त्र में बताये गये उत्तम लक्षणों से विभूषित, कन्या से विवाह करे। (अपनी) कन्याओं का दान (विवाह) तथा कुमारों की रक्षा करनी चाहिए। राष्ट्र के शासन में यह विधान अवश्य करना चाहिए।

'स्वयं गृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते[2] ।'

जो राजा स्वयं ही राष्ट्र की रक्षा में सजग रहता है वह सुख प्राप्त करता है।

पुत्रादितो दुःखसन्देहात् स्वयं गृहीतराज्यो भूयादित्याशयः ॥

[ऊपर के चरण का] भाव यह है कि पुत्र, बांधव या मित्र आदि के द्वारा राष्ट्र को किसी प्रकार का कष्ट न हो, इस आशंका से राजा स्वयं ही राज्य का पालन करे।

'ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्[3] ।'

शास्त्रोक्त विधि से यज्ञोपवीत संस्कार को प्राप्त कर लेने के बाद राजा सम्पूर्ण राष्ट्र की न्यायपूर्वक रक्षा करे।

अत्र क्षत्रियपदं राजपरम्, उपनयनादिसंस्कारवता परिरक्षणं कार्यमिति प्राशस्त्यपरं, 'बालोऽपि नावमन्तव्य[4]' इति मनोरेव प्रागुक्तेः।

इस श्लोक में क्षत्रिय शब्द का अर्थ राजा है। उपनयन आदि संस्कार से युक्त होकर राष्ट्र की सुरक्षा करनी चाहिए—इस प्रशस्त अर्थ का बोधन करने के लिए क्षत्रिय शब्द का उपादान किया गया है। वैसे तो राजा बालक भी हो तो उसका अपमान नहीं करना चाहिए' यह बात मनु ही पहले कह चुके हैं।

तद्यथा—

सो जैसे—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।

---

१ -मेककार्यमित्यर्थः (ङ)   २ म० ।७।११३।

३ म० ।७।२।   ४ म० ।७।९।

हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत् स शुभां सभाम्[1] ॥

राजा को चाहिए कि वह रात्रि के पिछले प्रहर में उठकर शौच आदि क्रिया से निवृत्त हो एकाग्र होकर हवन कर तदनन्तर ब्राह्मणों का पूजन करके मंगलमय या वास्तुलक्षणों से युक्त अपनी राजसभा में प्रवेश करे।

सभाकर्तव्यकलापाः 'व्यवहारान्नृपः पश्येदि'[2] दित्यादिना धर्मशास्त्रनिबन्धे विस्तारिताः।

सभा के क्रिया कलाओं का वर्णन 'राजा विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को देखे' इत्यादि वाक्यों के द्वारा धर्मशास्त्र के निबन्ध में विस्तार से किया गया है।

'व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्।
तत्रात्मभूतैः कालज्ञैराहार्यपरिचारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः[3] ॥'

सभा के कार्यों को सम्पन्न करने के उपरान्त नित्य नियमानुसार व्यायाम और स्नानादि क्रिया से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए अन्तःपुर में प्रवेश करे। वहाँ राजा विश्वस्त, समय का ज्ञान रखने वाले तथा किसी के बहकावे में न आने वाले रसोइयों द्वारा तैयार किये गये भोजन सुपरीक्षित और विषविनाशक मंत्रों से अभिमंत्रित भोजन को ग्रहण करे॥

महाभारते—

महाभारत में कहा है—

'इन्द्रियाणि तु सर्वाणि वाजिवत्परिपालयेत्[4]।
हितायैव भविष्यन्ति रक्षित द्रविणं यथा॥
आत्मा रक्ष्यस्तु सततं भोजनादिषु भारत।
विहाराहारकाले तु माल्यशय्यासनेषु च[5] ॥'

---

१ म० ।७।१४५।   २ या० ।२।१।
३ म० ।७।२१६, ७१७। म० । अहार्यैरिति।
४ म० भा० । परिपालय । आश्र० प० ।६।१३–१९
५ शय्याशनेषु (घ) (ङ)

हारीतः—

हारीत मुनि ने कहा है—

'प्राप्तकालस्तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्कालसर्पवत् ।
[1]महत्यल्पोऽप्युपायज्ञस्समये भवति क्षमः ॥
अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां सिद्धिमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा ॥
सत्यैश्वर्यं तथा त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एतैस्त्यक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्[2] ॥'

नीति जानने वाला राजा समय पाकर उसी तरह उठ खड़ा हो जाय जैसे काला नाग। क्योंकि उपायों का ज्ञाता व्यक्ति छोटा होने पर भी समय आने पर महान् व्यक्ति से सामना करने में समर्थ हो जाता है। अविद्वान् भी राजा श्रेष्ठ विद्वानों की सेवा करने से उसी तरह परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है जैसे जल का निकटवर्ती वृक्ष (जल का सम्पर्क पाकर फल-फूल जाता है)। सत्य, ऐश्वर्य तथा त्याग—ये तीन राजा के महान् गुण हैं, इन गुणों से रहित राजा निन्दा को प्राप्त करता है।

आत्मभूतैः प्रियैः, कालज्ञैश्चतुरैः, सर्वोपायैरात्मा रक्ष्य इति वर्त्तुलार्थः।

प्रधानतो राज्ञ एत ऐहिकस्त्वार्थाः। न च प्रजारक्षणस्या-दृष्टार्थकत्वादिदमुक्तमयुक्तम् ; अरक्षणे प्रजाक्षैण्यविरागभागधेय-भङ्गप्रसङ्गात् , अत्र दृष्टान्तो 'वेणो विनष्ट' इति।

[हारीतस्मृति और महाभारत के ऊपर आये हुए मनुस्मृति के श्लोक में] आत्मभूत शब्द का अर्थ है प्रियपात्र और कालज्ञ का तात्पर्य चतुर व्यक्ति से है। [ऊपर के मनु और महाभारत के श्लोकों का] निष्कर्ष यह है कि सभी उपायों से आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

मुख्य रूप से ये सब राजा के ऐहलौकिक स्वार्थ हैं (अर्थात् उसे अपनी और प्रजा की रक्षा सब प्रकार से करनी चाहिए)। यदि कहें

१ महानल्पोप्युपायज्ञः। (ङ)। २ नास्ति मुद्रितहारीतधर्मे।

कि प्रजा की रक्षा तो अपने-अपने भाग्य के अधीन है, इसमें राजा क्या करेगा ? तो इसका उत्तर यह है कि यदि राजा रक्षा नहीं करेगा तो प्रजाओं का भाग्य नष्ट हो जायगा (क्योंकि बिना पुरुषार्थ के भाग्य काम नहीं देता), उनमें (राजा और अपने जीवन के प्रति भी) वितृष्णा उत्पन्न हो जाएगी और इस प्रकार उनका विनाश होने लगेगा। इस विषय में 'वेण विनष्ट हुआ था' यही दृष्टान्त है। [पुराणों के अनुसार वेण बहुत अत्याचारी राजा हुआ था। उसके उत्पीडन से जब प्रजा नष्ट होने लगी तब मुनियों ने उस राजा को ही नष्ट कर डाला और उसके शरीर-मन्थन से राजा पृथु को उत्पन्न करके उससे प्रजाओं का कल्याण कराया।]

इति श्रीचण्डेश्वरकृतो राजनिरूपणतरङ्गः।

श्री चण्डेश्वर का बनाया हुआ राजनिरूपण नामक तरंग समाप्त।

द्वितीयस्तरङ्गः

अमात्यनिरूपणम्

अमात्यं विना राजकार्यं न निर्वहतीत्यतोऽत्र प्रथममात्यो निरूप्यते ।

बिना मंत्री के राज-काज नहीं चल सकता है, इसलिए पहले मंत्री का निरूपण किया जाता है—

मनुः[1]—

मनु ने कहा है—

मौलाञ्शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥

जो वंश-परम्परा से राज्य की सेवा करते आ रहे हों, शास्त्रों के ज्ञाता हों, वीर हों, युद्धविद्या में कुशल हों और कुलीन हों—ऐसे जाँचे हुए सात या आठ मंत्रियों को राजा नियुक्त करे ॥

मौलान् कुलसेवकान्, कुलोद्गतान् कुलीनान् ॥

[उक्त श्लोक में आये हुए शब्दों के अर्थ—] मौलान् = वंश-परम्परा से राज्य के सेवक । कुलोद्गतान् = उच्च कुल में उत्पन्न ।

याज्ञवल्क्यः[2]—

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

मन्त्रिणस्तु[3] प्रकुर्वीत प्राज्ञान् मौलान् स्थिराञ्छुचीन् ।
तैस्सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम् ॥

राजा हिताहित-विवेक में कुशल, कुल-क्रम से सेवा करने वाले, स्थिर और (बाहर-भीतर से) शुद्धि वाले मंत्रियों को नियुक्त करे और उनके साथ (सन्धिविग्रहादि) राज्योपयोगी कार्यों का चिन्तन करे,

---

१ म० ।७।५४। म० कुलोद्भवान् । २ या० ।१।३१०।

३ या० 'स मन्त्रिणः' ॥ प्रज्ञानिति (क) (ख) (ग) (ङ) ।

फिर पुरोहित के साथ और पश्चात् स्वयं (अपनी बुद्धि से) चिन्तन करे।

प्रथमं मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्। ततो ब्राह्मणेन, ततः स्वयं रहसि मन्त्रयेद्विचारयेदित्यर्थः।

[उक्त श्लोक के उत्तरार्ध का भाव यह है कि] पहले मंत्रियों के साथ मंत्रणा करे, तब ब्राह्मण के साथ और पश्चात् एकान्त में स्वयं विचार करे।

अमात्यकरणे[1] हेतुमाह मनुः[2]--

मनु ने मंत्री नियुक्त करने का यह कारण बताया है—

सुखेनापि यत्क्रियते[3] तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किञ्च[4] राज्यं महोदयम्॥

जो कार्य आसानी से किया जा सकता है, वही भी अकेले व्यक्ति के लिए कठिन होता है। ऐसी स्थिति में जिसका फल महान् है, ऐसे राजकार्य को बिना सहायकों के राजा अकेले कैसे कर सकता है?।

तथा—

और भी—

[5]अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोन्नतम्[6]।
स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्येक्षणे[7] नृणाम्॥

राजा जब प्रजाओं के कार्य की देखभाल करने में श्रान्त हो जाय तब धर्मों के ज्ञाता, विद्वान्, जितेन्द्रिय और कुलीन प्रधान मंत्री को (कार्य देखने के लिए) अपने आसन पर बैठा दे।

अमात्येषु मुख्यमुक्तलक्षणमेकं[8] मानार्थं पृथगासने स्थापयेत्।

१ अमात्येत्यारभ्य मनुरित्यन्तः पाठः (ङ) पुस्तके नास्ति।

२ म० ।७।५५।　　३ म०। अपि यत्सुकरं कर्म इति।

४ 'किमु'। इति मिथिलास्थशिवेश्वरशर्मगृह-प्राप्त-लिखितमानवपुस्तके पाठः। 'किन्तु' इति मनौ।　　५ म० ७।१४१।

६ म०। 'कुलोद्गतम्'।　　७ क्षणो (घ) पाठः प्रामादिकः।

८ मुख्यमुक्तलक्षण० (ङ)। मुख्यलक्षण० इत्यन्येषु।

अत्रार्थे व्यासः[१]—

मंत्रियों में से किसी एक को, जो उक्त लक्षणों से युक्त हो, मुख्य मंत्री बनाकर सम्मान के लिए पृथक् (विशिष्ट) आसन पर बैठाना चाहिए। इस विषय में व्यास ने कहा है—

स्मृतिस्तत्परमार्थेषु वितर्के ज्ञाननिश्चयः।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुरुः॥

परमार्थ (परलोक) का स्मरण रखना, सन्देह उपस्थित होने पर ज्ञान का निश्चय कर लेना (अर्थात् सही बात को जान लेना), (कर्तव्य के प्रति) दृढता और मन्त्रणा को गुप्त रखना—ये प्रधान मंत्री के परम गुरु हैं (अर्थात् प्रधान मंत्री में ये गुण अवश्य होने चाहिए)।

मन्त्रिण इत्यार्षत्वादेकवचनम्[२]।

उक्त श्लोक के 'मन्त्रिणः' पद में आर्षत्वात् (ऋषि-प्रणीत होने के कारण) एकवचन हुआ है (अन्यथा 'मन्त्रिणाम्' यह बहुवचनान्त प्रयोग होना चाहिए था; क्योंकि यह सामान्य रूप से मन्त्रियों के लिए कहा गया है)।

मनुः[३]—

मनु ने कहा है—

तैः सार्धं मन्त्रये[४]न्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
सामन्तानाञ्च[५] कार्येषु विदध्याच्छिवमात्मनः[६]॥

राजा उन मंत्रियों के साथ नित्य सामान्य संधि (मेल), विग्रह (युद्ध), स्थान (दंड, कोश, पुर, राष्ट्र संबंधी), समुदय (धान्य और सुवर्ण आदि के उत्पत्ति-स्थान), रक्षा और प्राप्त वस्तुओं को सत्पात्रों में

---

१ यह व्यासवचन लुप्त व्याससमृति से उद्धृत मालूम पड़ता है, क्योंकि प्रचलित व्याससमृति में यह नहीं मिलता।

२ कौटिलीये (५।३॥८।४।) मन्त्रीति प्रधानमन्त्री।

३ म० ।७।५६, ६७। ४ म० । 'चिन्तयेत्'।

५ म० । 'समस्तानाम्'। ६ म० । 'हितमात्मनः'। (ङ) चिरमात्मनः।

वितरण करने का विचार-विमर्श करे। उन मंत्रियों में सब का अलग अलग अभिप्राय जानकर तथा कार्यों में सामंतों की भी राय लेकर जिसमें अपनी भलाई देखे वह कार्य करे।

सन्धिविग्रहमिति समाहारः, सन्धिविग्रहमित्युपलक्षणम्। पृथक् पृथक् मतमाकलय्य चिरं चिन्तयेत्।

उक्त श्लोक के 'सन्धिविग्रहम्' पद में समाहार द्वन्द्व समास होने के कारण एकवचन हुआ है (अन्यथा 'सन्धिविग्रहौ' प्रयोग होता)। यह पद उपलक्षण है (अतएव यहाँ सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय—इन छह गुणों का बोध करना चाहिए)। (एकान्त में) अलग-अलग उनकी राय लेकर बहुत देर तक उस पर चिन्तन करे।

[1]सर्वेषान्तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मन्त्रयेत्परमम्मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्[2] ॥
[3]नित्यं तस्मिन् समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥

मंत्रियों में जो विद्वान् एवं श्रेष्ठ ब्राह्मण हो, राजा उसके साथ संधि, विग्रह आदि छह गुणों से युक्त परम मंत्रणा करे। उस ब्राह्मण सचिव पर सदा विश्वास करता हुआ राजा उसे सब कार्यों का भार सौंप दे और उसके साथ निश्चय करके कार्य आरंभ करे॥

पूर्वोक्तेन ब्राह्मणेन परमम्मन्त्रं निर्गलितार्थं षाड्गुण्यं राजा मन्त्रयेदित्यन्वयः। 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रय' इति कोषः[4]। तद्भावः षाड्गुण्यमित्यर्थः।

ऊपर कहे हुए ब्राह्मण के साथ राजा परा मंत्रणा अर्थात् निष्कर्ष-युक्त छह गुणों के सम्बन्ध में गुप्त वार्ता करे। अमरकोश के अनुसार छह गुण ये हैं—'सन्धि, विग्रह, यान (आक्रमण), आसन (आक्रमण के अवसर की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहना), द्वैध (फूट डालना) और आश्रय (बलवान् की सहायता प्राप्त करना)। छह गुणों की सत्ता को षाड्गुण्य कहते हैं (षड्गुणानां भावः षाड्गुण्यम् षड्गुण + ष्यञ्)।

---

१ म० । ७।५८। २ संयुतः (क) (ग)
३ म० ।७।५९। ४ अमरः ।२।८।१८।

महाभारते[1]—

महाभारत में कहा गया है—

मन्त्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान् विद्याविशारदान् ।
विनीतांश्च कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलानृजून् ॥
अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ् शुचीन् ।
दान्तान् कर्मसु पुण्यांश्च मुख्यान् कर्मसु योजयेत्[2] ॥
तैस्सार्धं मन्त्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभिस्सह ।
समस्तैरपि च व्यस्तैर्व्यपदेशेन[3] केनचित् ॥

[धृतराष्ट्र के द्वारा युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश—] तुम उन्हीं ब्राह्मणों को अपने मंत्री बनाओ, जो विद्या में पारंगत, विनयशील, कुलीन, धर्म और अर्थ में कुशल तथा सरल स्वभाव वाले हों। जो जँचे हुए तथा निष्कपट भाव से काम करने वाले हों, जो पिता-पितामहों के समय से काम देखते आ रहे हों तथा जो (बाहर-भीतर से) शुद्ध, संयमी और (जन्म एवं) कर्म से पवित्र हों, ऐसे मंत्रियों को उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में नियुक्त करना। उन्हीं के साथ तुम गूढ विषय पर विचार करो; किन्तु अधिक लोगों को साथ लेकर देर तक मंत्रणा नहीं करनी चाहिए। संपूर्ण मंत्रियों को अथवा उनमें से दो-एक को किसी काम के बहाने अलग ले जाकर विचार करना।

उक्तलक्षणान् ब्राह्मणान् मन्त्रेषु योजयेत्, बहुभिः सह न मन्त्रयेत्, अपि मन्त्रयेत्तदा केनचित् व्यपदेशेनेत्यर्थः। लक्षण-मुखेनामात्यधर्मानाहतुर्नारदहारीतौ[4]।

उपर्युक्त लक्षण से युक्त ब्राह्मणों को मंत्रणा के कार्य में नियुक्त करें। बहुतों के साथ मंत्रणा नहीं करनी चाहिए। यदि मन्त्रणा करे भी तो किसी बहाने या छिपाकर मंत्रणा करे, यह (उक्त श्लोक का) तात्पर्य है। नारद और हारीत ने लक्षण के तौर पर मंत्रियों के धर्मों को (इस प्रकार) बताया है—

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञां न वितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥

---

१ म० भा० । आश्रम० ।६।२०।१४।२१।

२ म० भा० । '–पुण्यांश्च पुण्यान् सर्वेषु योजयेः ।' इति वङ्गदेशमुद्रितभारते द्राविडे तु 'सर्वेषु मुख्यान् मुख्येषु योजयेः ।' इति ।

३ व्याप्तैर्वापदेशेन (ङ) ४ नोपलभ्यन्ते नारदस्मृतौ मुद्रितहारीते च ।

अल्पेच्छो[1] धृतिमान् प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा।
आदिष्टो न विकल्पेद्यः स राजवसतिं वसेत्॥
दूरादेवेक्षणे हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम्।
परोक्षेऽपि गुणः[2] श्लाघ्यः स्मरणं प्रियवस्तुषु॥
अतथ्यान्यपि[3] तथ्यानि [4]दर्शयन्त्यतिपेशलाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः[5]॥
नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किञ्चिदपि प्रियम्।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपतेः॥
स चामात्यः सदा श्रेयान् काकिनीमपि[6] वर्धयेत्।
कोषं प्राहुर्यतः प्राणान् ततः प्राणाः स भूपतेः॥

राजा के यह पूछने पर कि 'यहाँ कौन है ?', मंत्री बोले—'मैं हूँ, आज्ञा प्रदान करें'। मंत्री को चाहिए कि वह राजा की आज्ञा का अपनी शक्ति भर पालन करे। जो मंत्री थोड़ी इच्छा करने वाला, धैर्यशाली, विद्वान्, छाया की भाँति सदा पीछे पीछे चलने वाला और आज्ञा पाने पर संदेह न करने वाला हो, वह राजभवन में निवास करे। मंत्री राजा के दूर से ही देखने पर मुसकरा उठे, कुछ पूछने पर बहुत आदर दिखावे, परोक्ष में भी (राजा के) गुणों की प्रशंसा करे और (सदा उसकी) प्रिय वस्तुओं का स्मरण रखे। अत्यंत दक्ष मंत्री असत्य को भी सत्य करके उसी तरह दिखा देते हैं जैसे चित्रकारी जानने वाले लोग सम स्थान में (भी) नीचे को ऊँचा करके दरसाते हैं। मंत्री राजा की विपत्ति के प्रतीकार को छोड़कर दूसरी जगह बिना बताये स्वामी का कुछ भी प्रिय कार्य न करे। जो मंत्री (राजकोष) में एक कौड़ी भी (धन) बढ़ा देता है, वह सदा श्रेष्ठ है; क्योंकि कोष (खजाने) को प्राण तुल्य कहा गया है। अतएव ऐसा मंत्री राजा के प्राणों के समान है।

---

१ अल्पेच्छः (क)। अल्पेक्षः (ख) (ग) (घ) (ङ)

२ गुणश्लाघ्यस्मरणं (घ) (ङ)

३ अतथ्यानि च (ङ)।

४ निदर्शयति पेशला (ङ) (अशुद्धः पाठः)।

५ चित्रकर्माविदो जनाः (ङ) (अशुद्धः पाठः)।

६ 'यः काकिन्यपि' (क) (ख) (ग) (ङ) (सर्वथाऽशुद्धः)।

अल्पेच्छो[1] नातिधनाकांक्षी; छायेवानुगतो मन्त्रादिकार्यकाले न तु रहस्यकर्मादौ निषेधश्रवणात्; पेशलाः प्रवीणाः, समे निम्नोन्नतानीवेति यथा चित्रलेखकाः पटादौ[2] लिखनकौशलेन समे निम्नमुन्नतन्दर्शयन्ति तथैव प्रवीणमन्त्रिणश्चातुर्येणातथ्यानि अप्रतीर्याणि[3] सप्रतीर्याणि[4] दर्शयन्ति ॥ तथा च यस्य प्रतीकारोत्तरादि नास्ति तस्य तत्संपादयन्तीत्याशयः ॥ आपदि प्रियमपृष्टमपि कुर्वीतेत्यर्थः, काकिनी वराटसंख्या, प्राणाः प्राणतुल्याः ।

[उक्त श्लोकों में आये हुए शब्दों की व्याख्या—] अल्पेच्छ= जो बहुत धन की आकांक्षा न करे; छायेवानुगतः=छाँह की तरह अनुगमन करने वाला; किन्तु मंत्रणा आदि कार्यों के समय (अनुगमन करना उचित है) न कि रहस्य के कामों में; क्योंकि (ऐसे कामों में राजा का अनुगमन) निषिद्ध माना गया है। पेशल=दक्ष। समे निम्नोन्नतानीवेति=जैसे चित्रकार वस्त्र आदि पर चित्रण की पटुता से सम स्थान में (भी) नीचे को ऊँचा करके दिखा देते हैं उसी तरह कुशल मंत्री (अपनी) चतुरता से असत्य को सत्य करके दिखा देते हैं। भाव यह है कि जिसका कोई प्रतीकार, उत्तर आदि नहीं है, उसको भी सम्पन्न कर देते हैं॥ विपत्तिकाल में बिना पूछे भी (राजा का) प्रिय कार्य करे। काकिनी=कौड़ी। प्राणाः=प्राणों के समान।

अन्यच्च—

और भी—

धूर्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनोत्क्षिप्तः कार्याब्धौ स निमज्जति ॥
येषां राज्ञा सह स्यातामुपचयापचयौ ध्रुवम् ।
अमात्या इति तान् राजा नावमन्येत्कदाचन ॥
[5]महीभुजो मदान्धस्य विषमे कार्यसागरे ।

---

१ अल्पेक्षः । (घ) २ पट्टादौ । (घ) (ङ)
३ अप्रतीकार्याणि । (ङ) ४ सप्रतीकार्याणि । (घ)
४ महीभुजा (घ) (ङ)

[1]स्खलतो हि करालम्बः सुहृत्सचिवचेष्टितम् ॥
मूर्खे नियुज्यमाने तु त्रयो दोषा महीपतेः ।
अयशोऽर्थविनाशश्च नरके पतनन्तथा ॥
प्राज्ञे नियुज्यमाने च सन्ति राज्ञस्त्रयो गुणाः ।
यशः स्वर्ग्यविलासश्च[2] पुष्कलश्च धनागमः ॥

जिस राजा का मंत्री कोई धूर्त या स्त्री या बालक हो, वह अनीति रूपी वायु के द्वारा उड़ाया जाकर कार्यरूपी समुद्र में डूब जाता है। राजा के साथ जिनकी उन्नति और अवनति होती है (अर्थात् राजा समृद्ध है तो मंत्री भी समृद्ध होगा और राजा क्षीण है तो मंत्री भी क्षीण होगा), वे अमात्य हैं, राजा उनकी अवहेलना कभी भी न करे। (क्योंकि) कठिन कार्यरूपी समुद्र में (डूबते हुए) मदान्ध राजा के लिए बन्धु एवं मंत्री के प्रयत्नरूप हाथ का सहारा छूट जाता है मूर्ख मंत्री को नियुक्त करने पर राजा के तीन अनिष्ट होते हैं—(१) अपयश, (२) धन का नाश और (३) नरक में पतन। और विद्वान् मंत्री को नियुक्त करने पर राजा को तीन लाभ होते हैं—(१) यश, (२) स्वर्गीय सुख और (३) प्रचुर आय।

धूर्तस्त्रीबालमूर्खा न मन्त्रिणः कार्याः, प्राज्ञा एव मन्त्रिणः कार्याः, अत्रापि स्वोपचयापचयफलभागिनः प्रथमतो मन्त्रिणः कार्याः उक्तदोषगुणश्रवणात्। पुष्कलः सकलः। ननु प्रथमोक्त-लक्षणबालस्य कथमत्र निषेधो युक्त इति चेत्सत्यं परन्तु वयो-धर्मस्य सर्वगुणेषु[3] प्राबल्यात्। तेन तत्कृतान्यायशङ्कां निरस्तु[4]मशक्यत्वात्। अत एव मनुः[5]—

[ऊपर के श्लोक का भाव और शंका-समाधान] धूर्त, स्त्री, बालक और मूर्खों को मंत्री नहीं बनाना चाहिए, विद्वानों को ही मंत्री बनाना चाहिए। इनमें भी अपनी (राजा की) उन्नति और अवनति रूप फल के भागी, 'कोऽत्रेत्यहम्' इत्यादि प्रथमोक्त लक्षणों से युक्त मंत्रियों को

---

१ स्थूलतः (क) (ख) (ग) (ङ)

२ स्वर्ग० इति सुवचम्। यशोऽस्वर्ग्यविनाशश्चेति (घ) (ङ) सम्यक् पाठः।

३ सर्वगुणेभ्यः (घ)।

४ निरासितु० इति साधीयान्।

५ म० ।८।१६३।

नियुक्त करना चाहिए; क्योंकि मंत्रियों से राजा को मिलने वाले 'अयश, यश' आदि उक्त दोष और गुण सुने जाते हैं। पुष्कल=सम्पूर्ण। यहाँ प्रश्न होता है कि प्रथम तरंग में आये हुए 'महोत्साह' आदि लक्षणों से युक्त यदि बालक राजा हो तो उसका क्यों निषेध किया गया? उत्तर—यह कहना सत्य है, किन्तु राजा के अधिक अवस्था होने से उसके सभी गुणों में प्रबलता आ जाती है, और बालक राजा होने से उसके द्वारा अन्याय की आशंका बनी रहती है (इसलिए राजा वयस्क ही होना चाहिए बालक नहीं)। अतएव मनु ने कहा है—

मत्तोन्मत्तार्ताध्य[1] धीनैर्बालेन स्थविरेण वा।

मतवाला, पागल, शोकार्त, पराधीन, बालक और वृद्ध के साथ (व्यवहार सिद्ध नहीं होता है)॥

नारदः[2]—'यद्बालः कुरुते कार्यमि'त्यादि।

नारद ने कहा है—'बालक जो कार्य करता है' इत्यादि।

इति चण्डेश्वरकृतोऽमात्यतरङ्गः।

चण्डेश्वर द्वारा रचित अमात्यतरङ्ग समाप्त।

१ अध्यधीनैः (घ) (म०) मत्तोन्मत्तर्णाद्यधीनै (ङ)।
२ ना०। ऋण० प्र०। ३९।

तृतीयस्तरङ्गः

अथ पुरोहितादितरङ्गः

सर्वमङ्गलकारणमतोऽत्र पुरोहितो निरूप्यते ।

पुरोहित सब प्रकार के मंगलों का कारण है, इसलिए यहाँ उसका निरूपण करते हैं ।

व्यासः[1]—

व्यास ने कहा है—

वेदवेदार्थतत्त्वज्ञो जपहोमपरायणः ।
आशीर्वादपरो दक्ष एष राजपुरोहितः ॥

जो वेद और वेदार्थों के तत्त्व का ज्ञाता हो, जप एवं हवन करने में निरत हो, आशीर्वाद देने में तत्पर हो और दक्ष हो, वह राजपुरोहित (होने योग्य) है ॥

इदं पुरोहितस्वरूपम् । मनुः[2]—

यह पुरोहित का स्वरूप बताया गया है । मनु ने कहा है—

पुरोहितश्च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः[3] ।
तस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वै तानि कानिचित्[4] ।
यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान् धनानि च ॥

राजा पुरोहित की नियुक्त करे और (यज्ञादि सम्पादन के लिए) ऋत्विजों का वरण करे । वे लोग गृह्यसूत्र के अनुसार राजा के शान्ति-कर्म आदि सम्पन्न किया करें । राजा धर्म के निमित्त बहुदक्षिणायुक्त अनेक प्रकार के यज्ञ करे और ब्राह्मणों का भोग्य पदार्थ तथा धन दे ॥

---

१ यह श्लोक मुद्रित व्याससमृति में नहीं मिलता है ।

२ म० ।७।७८, ७९ ।   ३ चर्त्विजम् (घ) (ङ) ।

४ म० । तेऽस्य······वैतानिकानि च इति ।

याज्ञवल्क्यः[1]—

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

पुरोहितश्च कुर्वीत दैवज्ञमुदितोदयम् ।
श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोर्वृणुयादेव च[2] र्त्विजम् ॥
यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत विधिवद् भूरिदक्षिणान् ।
भोगांश्च दद्याद् विप्रेभ्यो वस्तूनि विविधानि च ॥
अक्षयोऽयं निधी राज्ञां विप्रेभ्यः प्रतिपादितम्[3] ।
अस्कन्नमव्ययञ्चैव[4] प्रायश्चित्तैरदूषितम् ॥
अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिवन्दितः ॥

राजा को ज्यौतिषी (अर्थात् ग्रहोत्पात तथा उनकी शान्ति आदि का ज्ञाता) तथा (शास्त्रोक्त अध्ययनानुष्ठानादि से) अभ्युदयशाली पुरोहित बनाना चाहिए। श्रौत (अग्निहोत्रादि) और स्मार्त (महादानादि) रूप क्रियाओं के सम्पादन करने के लिए ऋत्विज् का वरण राजा को करना चाहिए और पुष्कल दक्षिणा वाले सविधि यज्ञ करने चाहिए। भोग्य पदार्थ तथा विविध वस्तु का दान ब्राह्मणों को देना चाहिए। जोकुछ भी ब्राह्मणों को दानस्वरूप दिया जाता है, वह राजाओं की अक्षय निधि बन जाता है। (यज्ञादि में) अग्नि में किये जाने वाले हवन की अपेक्षा विप्ररूपी अग्नि में हवन करना अर्थात् दानादि का देना अधिक श्रेष्ठ है, जो क्षरण एवं विनाश से रहित और प्रायश्चित्त आदि के क्लेश से अदूषित होता है। राजा को ऋत्विज्, पुरोहित और आचार्य के द्वारा प्राप्त अशीर्वाद से अभिनन्दित होना चाहिए॥

अस्कन्नमन्यत्र[5] पतनाभावः ॥ उक्तपुरोहितादेरर्थधर्मयोर-

---

१ या० ।१।३१३-३१६।३२२ ।

२ ऋत्विज इति या० पाठः ।

३ राज्ञां यद्विप्रेषूपपादितमिति अपरार्कः ।

४ या० अस्कन्नमव्ययं (व्ययं वा)। अस्कन्दनमिति पाठस्त्यक्तव्यश्छन्दोभङ्गभिया ।

५ अस्कन्नं क्षरणरहितमिति मिताक्षरा ।

विशेषादत्रावसरः। यत्तु यजनादेरदृष्टमेव फलमिति तन्न। 'राज्यकामोविजयकामो धनकामः[1] पुष्ट्यादिकामो यजेदि'त्यादिदर्शनात्, व्यवहाराच्च। किञ्चाशीर्वादादेरर्थप्रयोजकस्य पृथगुपादानात्। तथा चाह मनुः[2]—

अस्कन्न=दूसरी जगह गिरने का अभाव। उक्त पुरोहित आदि को राजा के आर्थिक और धार्मिक दोनों विषयों में समान रूप से अधिकार है, इसलिए यहाँ उनकी चर्चा की गई है। जो यह कहते हैं कि यज्ञ आदि का फल तो अदृष्ट ही है (फिर यह सब करने से राजा को अक्षय निधि की प्राप्ति कैसे होगी), उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'राज्य चाहने वाला विजय चाहने वाला, धन चाहने वाला और पुष्टि आदि चाहने वाला मनुष्य यज्ञ करे' इत्यादि शास्त्रीय वचन मिलते हैं और (यज्ञ आदि करने का) व्यवहार भी है। और भी, ब्राह्मणों के आशीर्वाद आदि से अर्थ की प्राप्ति होती है, ऐसे अलग से भी प्रमाण मिलते हैं। जैसा कि मनु ने कहा है—

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्॥
सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे॥
पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च।
अलं[3] वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम्॥
न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा विधा[4] तव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः॥

अग्नि में किये गये हवन की अपेक्षा ब्राह्मण के मुख में किया गया होम (अर्थात् ब्राह्मण को दिया गया दान) श्रेष्ठ है। क्योंकि यह हवि न इधर-उधर गिरती है, न सूखती है, और न कभी नष्ट होती है। ब्राह्मणेतर व्यक्ति को दिये गये दान का जो फल होता है उससे दूना

---

१ पुत्र्यादिकामो (ङ)।

२ म०।७।८३-८६।

३ म०। अल्पमिति॥ दानस्य फलमश्नुते इति।

४ म०। निधा०।

फल उस ब्राह्मण को देने से होता है, जो ब्राह्मण का कार्य न करता हुआ भी अपने को ब्राह्मण कहता है। फिर विद्वान् ब्राह्मण को दिये गये दान का फल लाख गुना और वेदपारंगत ब्राह्मण को दिये गये दान का फल अनन्त होता है। पात्र की विशेषता और श्रद्धा के तारतम्य से दान का फल परलोक में थोड़ा या बहुत मिलता है। (ब्राह्मणों को दिये गये दान के फल रूप) उस (निधि) को न तो चोर चुरा सकते हैं, न शत्रु हरण कर सकते हैं और न वह नष्ट हो सकती है, इसलिए राजा को ब्राह्मणों में इस अक्षय निधि की स्थापना करनी चाहिए।

प्राधीते विद्यावति इदं प्रासङ्गिकम्।

(ऊपर के श्लोक में आये हुए) 'प्राधीते' का अर्थ विद्वान् है। यह बात प्रसंग में आने के कारण लिखी गई है (अन्यथा राजपुरोहित के निरूपण में इसका लिखना आवश्यक नहीं था)।

इति चण्डेश्वरकृतो राज पुरोहितादितरङ्गः[1]।

श्रीचण्डेश्वर-रचित राजपुरोहितादिनिरूपण नामक तरंग समाप्त।

---

१ पुरोहितादितरङ्गः (घ)।

चतुर्थस्तरङ्गः

अथ प्राड्विवाकः

न्यायाधीश का निरूपण प्रारंभ किया जाता है।

कात्यायनः—

कात्यायन ऋषि ने कहा है—

यदा कार्यवशाद्राजा न पश्येत्कार्यनिर्णयम्।
तदा तत्र नियुञ्जीत ब्राह्मणं शास्त्रपारगम्[1]॥

जब राजा अन्य कार्यों में लगे रहने के कारण न्यायालय का कार्य स्वयं न देख सके तब वहां (के कार्य-संचालन के लिए) शास्त्र-निष्णात ब्राह्मण की नियुक्ति करे।

स्मृतिः—

स्मृति कहती है—

कुलशीलगुणोपेतः सत्यधर्मपरायणः।
प्रवीणः पेशलो दक्षो धर्माध्यक्षो विधीयते॥

ऐसे न्यायाधीश को नियुक्त करना चाहिए जो कुलीन, शीलवान्, गुणवान्, सत्य और धर्म में निरत, चतुर, कोमल तथा निपुण हो।

धर्माध्यक्षो न्यायकारी, अन्यकार्यासक्तः स्वयं यदि निर्णेतुमशक्तस्तदा राजा उक्तलक्षणं ब्राह्मणं न्यायकारित्वे नियुञ्ज्या[2]दित्यर्थः।

धर्माध्यक्ष=न्याय करने वाला। [दोनों श्लोकों का भाव यह है कि] अन्य कार्यों में आसक्त होने पर राजा यदि स्वयं निर्णय (मुकदमें का फैसला) न कर सके तो वह उक्त (कुल, शील वाले) लक्षण से युक्त ब्राह्मण को न्याय के कार्य में नियुक्त करे।

---

१ वेदपारगमिति (ख) (ग) (घ) (ङ)। (ख) (ङ) पुस्तकयोः 'शास्त्रपारगमिति पाठान्तरम्' इत्यधिकः पाठः।

२ दयमर्थः (घ)।

बृहस्पतिः ।

बृहस्पति ने कहा है—

राजा कार्याणि[1] पश्येत प्राड्विवाकोऽथवा द्विजः ।
न्यायाङ्गान्यग्रतः कृत्वा सभ्यशास्त्रमते स्थितः[2] ॥
विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिप्रश्नन्तथैव च ।
प्रियपूर्वं प्राग्वदति प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥

न्याय के अङ्गों (अग्नि-जल-परीक्षा आदि) को आगे करके न्याय सभा संबंधी शास्त्र (कानून) के अनुसार राजा (स्वयं न्याय के) कार्यों को देखे अथवा ब्राह्मण न्यायाधीश (विवादों का निर्णय करे) । विवाद (मुकदमे) में प्रश्न पूछता है, फिर प्रश्न पर प्रश्न करता है और पहले प्रिय शब्द जोड़कर (अर्थात् प्रिय महोदय, इस प्रकार) बोलता है, इसलिए न्यायाधीश प्राड्विवाक कहलाता है ।

पृच्छति विविनक्ति चेति प्राड्विवाकः । 'विचारणपर्यन्तमेव प्राड्विवाकधर्म' इति पल्लवकारः । न्यायाङ्गानि वह्निजलादीनि तान्यग्रतः कृत्वेति स्वरसाद्दण्डादिरपि' इति लक्ष्मीधरः । वस्तुतस्तु यथा नृपाज्ञा तथा कुर्यादिति व्यवहारोऽपि तथैव ॥

पूछता है और विचार करता है, इसलिए न्यायाधीश को प्राड्विवाक कहते हैं । विचार करना ही प्राड्विवाक का धर्म है, यह पल्लवकार का मत है । लक्ष्मीधर का कहना है कि न्याय के अंग हैं अग्नि-जल-परीक्षा आदि उन्हें आगे करके—इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि न्यायाधीश (अपराध के अनुसार) दंड आदि भी दे । वास्तविक बात तो यह है कि राजा की जैसी आज्ञा हो वैसा करे । व्यवहार भी यही है ।

हारीतः ।

हारीत ने कहा है—

---

१ राजकार्याणि (ख) (घ) (ङ) । 'राजा' इति कल्पतरुकारो लक्ष्मीधरः पठति ।
२ अपरार्कस्तु (या० २।३।) एतद् वृद्धबृहस्पतिवचनमित्युदाहरति ।

यथा शल्यम्भिषक्कार्यमुद्धरेन्मन्त्रशक्तितः[1] ।
प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद् व्यवहारतः ॥

जैसे वैद्य मन्त्र-शक्ति (? यन्त्र-शक्ति) के प्रभाव से शल्य-चिकित्सा करता है (अर्थात् शरीर के बाहर से प्रविष्ट काँटे, शीशे आदि को निकाल देता है) उसी तरह न्यायाधीश व्यवहार (कानून) से अपराध को निकाल-बाहर करे ॥

भिषक् वैद्यः । शल्यमत्र छलम्[2] ।

भिषक् कहते हैं वैद्य को और यहाँ (श्लोक के उत्तरार्ध में प्रयुक्त) शल्य का अर्थ है छल (धोखा, अपराध) ।

व्यासः ।

व्यास ने कहा है—

विवादानुगतं दृष्ट्वा ससभ्यस्तु प्रयत्नतः ।
विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥

विवाद (मुकदमे) के अन्तर्गत सभी तथ्यों का अवलोकन करके सभ्य (जूरी) के साथ प्रयत्नपूर्वक जिसलिए विचार करता है इसलिए उसे प्राड्विवाक कहा गया है ॥

मनुः[3] ।

मनु ने कहा है—

सोऽस्य[4] कार्याणि पश्येत सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।

वह (न्यायाधीश) तीन सभासदों के साथ राजसभा में राजा के कार्यों को देखे ।

सभ्यत्रयस्यावश्यकत्वमित्यभिप्रायः, सभ्यचतुष्टयादेः प्रतिषेधाभावात् ।

(ऊपर के श्लोक का) अभिप्राय यह है कि (न्याय-कार्य में) तीन सभासदों (जूरी) की आवश्यकता है; क्योंकि चार सभासदों का (शास्त्र में) निषेध किया गया है ।

---

१ वीरमित्रोदये 'नारदहारीतौ । यथा शल्यं भिषक्कायादुद्धरेद्यत्नयुक्तितः । इति । (अत्र 'यन्त्र०' पाठस्तूचितः ।)

२ शल्यमत्र लक्षणम् (ङ) । ३ म० ।८।१०।

४ सौम्यं (क) । म० । संपश्येत् ।

नारदः[1] ।

नारद ने कहा है—

यत्र सभ्यो जनः सर्वस्साध्वेतदिति मन्यते ।
स निःशल्यो विचारः स्यात्सशल्यः स्यादितोऽन्यथा ॥

जहाँ (न्यायालय में) सभी सभासद 'यह बात ठीक है' ऐसा मान लें, वही शुद्ध (धार्मिक) निर्णय है। इसके विपरीत (विचार) अशुद्ध है।

'निर्णयविषयं शल्यमधर्मरूपमि'ति सागरः । अत्रापि दण्डा[2]-द्धनमित्यर्थपरत्वम् ।

निर्णय संबंधी शल्य अधर्म को कहते हैं, यह सागर का मत है। यहाँ भी दण्ड का तात्पर्य आर्थिक दण्ड से है।

इति चण्डेश्वरकृतोऽत्र प्राड्विवाकतरङ्गः ।

यहाँ श्रीचण्डेश्वर-रचित प्राड्विवाक-निरूपण नामक तरंग समाप्त हुआ।

---

१ ना० ।३।१७ २ दण्डाधन० (ङ)

पञ्चमस्तरङ्गः

अथ सभ्यनिरूपणम्

अब सभासदों का वर्णन किया जाता है ।

सभासु साधुस्सभ्यस्तेन प्रथमं सभा निरूप्यते ।

जो सभा (के कार्यों) में निपुण हो, वह सभ्य कहलाता है, अतएव पहले सभा का निरूपण किया जाता है ।

हारीतः[1] ।

हारीत ने कहा है—

प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठिता[2] सुमुद्रिता शासिता सभा ।
चतुर्विधा सभा प्रोक्ता सभ्याश्चैव तथाविधाः[3] ॥
प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामे नाना ग्रामेऽप्रतिष्ठिता ।
मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता ॥
[4]नृपाधिकृतसभ्याश्च स्मृतिर्गणकलेखकौ ।
हेमाग्न्यम्बुस्वपुरुषाः साधनाङ्गानि वै दश ॥

सभा चार प्रकार की बतायी गई है—(१) प्रतिष्ठिता, (२) अप्रतिष्ठिता, (३) सुमुद्रिता और (४) शासिता । इसी तरह सभासद भी चार प्रकार के होते हैं। जो सभा नगर तथा गाँव में होती है, वह प्रतिष्ठिता कहलाती है। जिस-किसी गाँव में होने वाली सभा अप्रतिष्ठिता, अध्यक्ष से युक्त सभा मुद्रिता और राजा से युक्त सभा शासिता कही जाती है। राजा, अधिकारी, सभासद, धर्मशास्त्र, गणना करने वाला (ज्यौतिषी), लेखक, सोना, अग्नि, जल और छड़ीबरदार ये दस सभा के साधनभूत अंग माने जाते हैं।

तथाचायमर्थः । या ग्रामे राजग्रामे परिकल्पितस्थले सभा

---

१ बृहस्पतिः अपरार्कटीकायाम् (या० ।२।१।) ।

२ या० अप० । अप्रतिष्ठा च । मुद्रिता इति (ख) (घ) (ङ) तथेत्यपरार्कः ।

३ या० अप० । चलानाम ।   ४ या० अप० । नृपोधिकृत० ।

सा प्रतिष्ठिता, यदा कुत्रापि ग्रामे साऽप्रतिष्ठाता, याध्यक्षप्राड्-विवाकाद्यधिष्ठिता सा मुद्रिता, या राज्ञाद्यधिष्ठिता सा शासिता इति पूर्वद्वये चापरद्वयं विशेषणम्। स्मृतिर्धर्मशास्त्रं स्वपुरुषा[1] वेत्रपाण्यादयः।

उक्त श्लोकों का यह अर्थ है—गाँव में अर्थात् राजा के गाँव में तथा निश्चित किये हुए किसी विशेष स्थान में जो सभा बुलायी जाती है, वह प्रतिष्ठिता है। जब किसी भी गाँव में सभा बुलायी जाती है तब वह अप्रतिष्ठिता कहलाती है। जिसमें अध्यक्ष और न्यायाधीश आदि विद्यमान होते हैं, वह मुद्रिता कही जाती है। जिसमें राजा आदि विराजमान हों, वह शासिता है। मुद्रिता और शासिता के विशेषण क्रमशः प्रतिष्ठिता और अप्रतिष्ठिता में भी जोड़ देने चाहिए। स्मृति= धर्मशास्त्र। स्वपुरुष=हाथ में बेंत लिये हुए पुरुष, छड़ीबरदार आदि।

एषाम्मूर्धा नृपोऽङ्गानां मुखञ्चाधिकृतः कृतः।
बाहू सभ्याः स्मृतिर्हस्तौ जङ्घे गणकलेखकौ॥
हेमाग्न्यम्बु दृशौ दृष्टं पादौ स्वपुरुषास्तथा।
दशानामपि[2] चैतेषां कर्म प्रोक्तं पृथक् पृथक्॥

इन अंगों में राजा मस्तक है, अधिकारी मुख है, सभासद बाहें हैं, धर्मशास्त्र दोनों हाथ हैं, गणक और लेखक दोनों जंघायें हैं, सोना, अग्नि और जल दोनों नेत्र हैं तथा छड़ीबरदार दोनों पैर हैं। इन दसों अंगों का कार्य अलग-अलग बताया गया है।

मूर्धा मस्तकः अधिकृतोऽधिकारी, दृष्टं शास्त्रेषु।

[उक्त श्लोकों में आये हुए शब्दों के अर्थ—] मूर्धा=सिर। अधिकृत=अधिकारी। दृष्टम्—अर्थात् शास्त्रों में ऐसा देखा गया है।

वक्ताध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्याः कार्यपरीक्षकाः।
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूते जयं दानं दमं तथा॥

---

१ 'स्वपुरुषा वेत्रपाण्यादय' इत्यारभ्य हेमाग्न्यम्बुदृशौ दृष्टं पादावित्यन्तः पाठः नास्ति (घ) (ङ)।

२ दासानामपीति पुस्तकान्तरेषु।

शपथार्थे हिरण्याग्नी[1] अम्बु तृषितक्षुब्धयोः[2] ।
गणको गणयेदर्थं[3] लिखेदर्थं च लेखकः ॥
सकृदुक्त[4] गृहीतार्थो लघुहस्तो[5] जिताक्षरः ।
सर्वशास्त्रसमालोकी एष शासनलेखकः[6] ॥
प्रत्यर्थिसभ्याऽनयनं साक्षिणाञ्च[7] स्वपूरुषः ।
कुर्यादनग्नकौ[8] रक्षेदर्थिप्रत्यर्थिनौ सदा ॥

[उपर्युक्त दसों अंगों के कार्य बताते हैं—] अध्यक्ष या अधिकारी वक्ता (स्पीकर) का कार्य करते हैं; राजा शासन करता है; सभासद लोग कार्यों की जाँच करते हैं; धर्मशास्त्र निर्णय, विजय, दान तथा दमन बताता है; शपथ के लिए सोना और अग्नि तथा प्यासे एवम् उत्तेजित के लिए जल सभा में रखे जाते हैं। गणक अर्थ (रकम) की गणना करता है और लेखक सभा की कार्यवाही लिखता है। राजाज्ञा लिखने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो एक ही बार कहने पर किसी विषय का भाव हृदयंगम कर लेता है, सरासर हाथ बढ़ाते हुए सुन्दर अक्षर लिखता है और सकल शास्त्रों का सम्यक् अवलोकन किये रहता है। छड़ीबरदार का कार्य है कि वह सभा में प्रत्यर्थी (मुद्दालेह), गवाहियों तथा सभासदों को बुला लावे और जब तक न्याय न हो जाय तब तक अर्थी-प्रत्यर्थी (मुद्दई-मुद्दालेह) को सदा उपस्थित रखे ॥

अनग्नकावजातन्यायौ । एतानि प्रयोजनानि इत्यर्थः ।

अनग्नक=जिनका न्याय न किया गया हो। ये प्रयोजन (अर्थात् कार्य दसों अंगों के बताये गये) हैं।

बृहस्पतिः[9] ।

बृहस्पति ने कहा है—

एतद्दशाङ्गं करणं यस्यामध्यास्य पार्थिवः ।
न्यायान्पश्येत्कृतमतिः सा सभा पुंससम्मता[10] ॥

---

१. 'हिरण्याग्नि' (अशुद्धः)। २ अपरार्कः जन्तुषु ।

३ अपरार्कः । लिखेन्न्यायमिति । ४ सकृदुक्तगृहीतार्थः (ङ) (सम्यक् पाठः)।

५ लेखकाग्रयः (ख) (ङ) ६ एषः प्रोक्तो हि लेखकः (ख) (ङ) । एषः स्यात् सत्यलेखकः (ग) (घ) ७ साक्षिणश्चेति (क) (ख) (ग) (ङ)

८ अपरार्कमित्रमिश्रोदाहृते बृहस्पतिवचने 'कुर्यादलग्नकौ' इति पाठः ॥

९ अपरार्कटीकायाम् (पा० ।२।१।)।

१० पुंसेत्यार्षः । (ख) (घ) (ङ) । पुर० इति ॥ अध्वर० इति अपरार्कमित्रमिश्रौ पठतः ।

लोकवेदाङ्गधर्मज्ञास्सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा ।
यत्रोपविष्टा धर्मज्ञाः[1] सा यज्ञसदृशी सभा ॥

जिस (सभा) में इन दसो अंग रूप साधन का अवलम्ब लेकर विद्वान् राजा न्याय करता है, वह सभा शिष्टजनमान्य होती है, जिसमें लोक, वेद, वेदों के अंग (शिक्षा, कल्प आदि) तथा धर्म के ज्ञाता सात, पाँच या तीन भी पुरुष बैठे हों, वह सभा यज्ञ के समान कही गयी है ॥

मनुः[2] ।

मनु ने कहा है—

यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञश्चाधिकृतो[3] विद्वान् ब्राह्मणस्तां[4] सभां विदुः ॥

जिस स्थान पर वेद जानने वाले तीन ब्राह्मण बैठते हैं और राजा का प्रतिनिधि विद्वान् ब्राह्मण बैठता है, उस को सभा कहते है। [यहाँ अन्तिम चरणमें 'ब्रह्मणः' पाठ उचित मालूम होता है। तदनुसार अर्थ होगा—जिस सभा में वद जानने वाले······उस सभा को ब्रह्म-सभा (चतुर्मुख ब्रह्मा की सभा के तुल्य) कहते हैं।]

सप्त पञ्च त्रयोऽपि चेति तद्गुणवत्पुरुषपरम्। यज्ञ-सदृशीति। एतदुक्तलक्षणा सभा प्रशस्ता अन्या त्वप्रशस्ता इति भावः।

साँत, पाँच, तीन—ये उक्त गुणों से भूषित पुरुषपरक हैं (अर्थात उक्तसंख्यक पुरुष ऐसे हों जो लोक-वेदादि के ज्ञाता हों)। यज्ञ-सदृशी—इससे यह समझना चाहिए कि उक्त लक्षण वाली सभा प्रशस्त होती है और उससे भिन्न अप्रशस्त।

---

१ विप्राग्र्या इत्यपरार्कपाठः। २ म० ।८।११॥

३ राज्ञश्च प्रकृतो इति मेधातिथिसर्वज्ञनारायणाः पठन्ति ॥

४ ब्राह्मणस्तामिति मानवटीकाकाराः पठन्ति ॥

५ यह श्लोक मनुस्मृति में नहीं मिलता है और 'यज्ञसदृशी' इत्यादि सन्दर्भ से भी 'स एव' में 'सः' सर्वनाम बृहस्पति के लिए आया है, ऐसा अनुमान होता है।

सभ्यानाह स[5] एव ।

उन्होंने ही सभासदों का लक्षण बताया है—

साधुकर्मक्रियायुक्तास्सत्सत्यधर्मपरायणाः ।
अक्रोधलोभाश्शास्त्रज्ञास्सभ्याः कार्या महीभुजा ॥

राजा ऐसे सभासदों को नियुक्त करे जो उत्तम कार्यों के अनुष्ठाता हों, सत्य और धर्म में निरत रहने वाले हों, क्रोध तथा लोभ से वर्जित हों और शास्त्रों के ज्ञाता हों

नारदः[1] ।

नारद ने कहा है—

राजा तु धार्मिकान् सभ्यान् नियुञ्ज्यात् सुपरीक्षितान् ।
व्यवहारधुरं वोढुं ये शक्तास्सदुषा[2] (? सद्वृषा) इव ॥
धर्मशास्त्रार्थकुशलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
समाः शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदः ॥

राजा धार्मिक, सुपरीक्षित तथा ऐसे व्यक्तियों को सभासद बनावे जो व्यवहार की धुरा को अच्छे बैल की तरह ढोने में समर्थ हों। धर्मशास्त्र के अर्थों को समझने में निपुण, कुलीन, सत्यवादी तथा शत्रु और मित्र में समान (निष्पक्ष) सभासद राजा के होने चाहिए ॥

विष्णुः[3] ।

विष्णु ने कहा है—

धर्मकर्मक्रियोपेताः कार्या राज्ञा सभासदः ॥

धर्म और कर्म का अनुष्ठान करने वाले सभासदों को राजा नियुक्त करे ॥

व्यवहारोऽत्र विचारः । धर्मशास्त्रार्थ कुशलाः मन्वादिधर्मशास्त्राणामर्थे कुशला इति प्राञ्चः, नव्यास्तु अत्र धर्मशास्त्रं मुनिप्रणीत-

---

१ ना० ।३।४।५।

२ ना० । 'सद्गवा' । इति ॥ 'पुङ्गवा०' इति स्मृतिचन्द्रिकायाम् । मदनरत्ने"""कल्पतरावपि सद्गवा इत्येव पाठ इति मित्रमिश्रः ।

३ वि० ।३।७४। 'जन्मकर्मव्रतोपेताश्च राज्ञा सभासदः कार्याः' इत्यादि विष्णुस्मृतिपाठः ।

धर्मप्रयोजकशास्त्रमात्रं तेन मीमांसादेरपि संग्रह इति, मन्मते उभयोरविरोधः प्रथमे आदिपदोपादानात् परन्तु धर्मशास्त्रं मन्वादिप्रणीतम्, अर्थशास्त्रं[1] राजनीत्यादि। 'यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयो' रिति नारद[2]वचनात् अर्थ-शास्त्रस्यापि निर्णायकत्वावगमादिति लक्ष्मीधरेणात्रैव व्याख्या-तमिति युक्तम्॥

[ऊपर नारद के वचन में] व्यवहार का अर्थ है विचार। धर्म-शास्त्रार्थ कुशल का अर्थ है मनुस्मृति आदि धर्मशात्रों के अर्थ (लगाने) में प्रवीण—यह पूर्वाचार्यों का मत है; नवीन आचार्यों का कहना है कि यहाँ धर्मशास्त्र का तात्पर्य है, मुनियों के बनाये हुए धर्म-प्रतिपादक सभी शास्त्रों से, इसलिए मीमांसा आदि शास्त्रों का भी ग्रहण हो जाता है। मेरे विचार से दोनों मतों में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि पहले मत में भी आदि पद का उपादान तो है ही (उससे मीमांसा आदि का ग्रहण हो जाएगा)। परन्तु धर्मशास्त्र मनु आदि का बनाया हुआ माना जाता है और अर्थशास्त्र राजनीति आदि को समझना चाहिए। 'जहाँ धर्म-शास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध हो' इस नारद-वचन के अनुसार अर्थ-शास्त्र को भी निर्णायक माना गया है—इस प्रकार की व्याख्या लक्ष्मीधर ने यहीं पर की है, वह ठीक है।

कात्यायनः।

कात्यायन ऋषि ने कहा है—

अलुब्ध[3]धनवन्तश्च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
सर्वशास्त्रप्रवीणाश्च सभ्याः कार्या नृपैर्द्विजाः॥

राजा लोभरहित, धनवान्, धर्मज्ञाता, सत्यवादी तथा सकल शास्त्रों में प्रवीण ब्राह्मणों को सभासद बनावे।

तथा।

और भी—

एवं शास्त्रमधीयानो[4] न विद्यात् कार्यनिर्णयम्।

---

१ अर्थस्त्वर्थशास्त्रं। (घ) (ङ) २ ना० ।१।३९।

३ अलुब्ध इति पुस्तकान्तरेषु। अलुब्धा० इति अपरार्कः।

४ 'एकं शास्त्रमधीते यः' इत्यादि कात्यायनवचनं पठत्यपरार्कः।

तस्माद् दुर्गागमः[१] कार्यो विवादेनोत्तमो[२] नृपैः ॥
यत्र विद्वान्न विप्रः स्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत् ।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥

इस प्रकार (? एक ही) शास्त्र का अध्ययन करता हुआ राजा कार्य का निर्णय नहीं कर पाएगा। इसलिए विवाद (शास्त्रार्थ) के द्वारा वह कठिन (? बहुत) शास्त्रों का भी बोध प्राप्त करे। [नीचे टिप्पणी में दिये हुए पाठ ही उचित मालूम होते हैं] जहाँ विद्वान् ब्राह्मण न मिले वहाँ विद्वान् क्षत्रिय अथवा धर्मशास्त्रवेत्ता वैश्य को नियुक्त करे, किन्तु शूद्र को यत्नपूर्वक छोड़ दे।

वृषलस्य धर्मशास्त्रज्ञानेऽपि धर्मनिर्णयार्थं न नियुञ्जीत। तथाहि।

शूद्र को धर्मशास्त्र का ज्ञान होने पर भी धर्म का निर्णय करने के लिए (उसे) नियुक्त न करे। क्योंकि—

अतोऽन्यैर्यत्कृतं कार्यमन्यायेन च यत्कृतम्[३] ।
नियुक्तैरपि विज्ञेयं दैवाद्यद्यपि शास्त्रतः ॥
यस्य राज्ञस्तु कुरुते शूद्रो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः[४] ॥

इसलिए दूसरों के द्वारा जो कार्य किया गया है और अन्याय से जो कार्य किया गया है, उसे संयोगवश हो जाने पर भी सभासद लोग शास्त्रानुसार उस पर विचार करें जिस राजा के यहाँ शूद्र धर्म का विवेचन करता है, उस राजा का देश कीचड़ में धँसी हुई गौ की भाँति क्लेश पाता है।

व्यासः[५] ।

व्यास ने कहा है—

---

१ 'बह्वागम' इति अपरार्कः । २ 'विवादेषु' इति अपरार्कः ।
३ 'अन्यायेन कृतं तु तत्' इति अपरार्कः ।
४ मानवेऽपि एष श्लोकः । म० । ८ । २१ ।
५ (घ) (ङ) पुस्तकयोः नास्ति ।

अधर्माज्ञां[1] यदा राजा नियुञ्जीत विवादिनाम् ।
विज्ञाप्य नृपतिं सभ्यस्तदाकार्यं निवर्तयेत् ॥

जब राजा अभियुक्तों के लिए अधर्ममूलक आज्ञा दे (अर्थात् उचित निर्णय न दे) तब सभासद् राजा से निवेदन करके अकार्य (अनुचित आदेश) को निरस्त करा दे ।

इयमाज्ञा अधर्मायेति[2] नृपतिं विज्ञाप्य[3] निवर्तयेत् ।

इस आज्ञा से अधर्म होगा—ऐसा राजा से निवेदन करके (उसे) निरस्त करावे ।

[4]सभ्येनावश्यकर्तव्यं धर्मार्थसहितं वचः ।
शृणोति यदि नो राजा स्यात्तु सभ्यस्ततोऽनृणः[5] ॥
न्यायमार्गादपेतन्तु ज्ञात्वा चित्तं महीपतेः ।
वक्तव्यन्तु प्रियं नात्र न सभ्यः किल्बिषी भवेत् ॥

सभासद् का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह धर्म-अर्थ से युक्त वचन राजा से कहे । यदि राजा उसका वचन नहीं सुनता है तो भी वह (कर्तव्य-पालन के द्वारा) ऋण से मुक्त हो जाता है । राजा के चित्त को न्याय के मार्ग से हटा जानकर सभासद ठकुरसुहाती न करे इससे वह पाप का भागी न होगा ।

न चेत्सभ्यः किल्बिषी भवेदित्यर्थः ।

अन्यथा (अर्थात् ठकुरसुहाती करने से) सभासद पापभागी होगा ।

अधर्मतः प्रवृत्तन्तु नोपेक्षेरन् सभासदः ।
उपेक्षमाणाः[6] सनृपा नरकं यान्त्यधोमुखाः ॥
अन्यायतो यियासन्तं[7] येऽनुयान्ति सभासदः ।
तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः स तैर्नृपः ॥

---

१ अधर्माय (क) (ख) (ग) (अपपाठः) ।
२ 'व्मधर्माय (क) (ख) (ग) (अशुद्धः) । ३ विज्ञाप्यानयं (ङ)
४ सखिनावश्यनिन्द्यते (ङ) (प्रामादिकः)
५ ततो नृपः (क) (ख) (ग) । ६ उपेक्ष्यमाणाः (घ)
७ यियासन्तः (ङ)

सभासद अधर्म से कार्य में प्रवृत्त राजा की उपेक्षा न करें। उपेक्षा करने वाले सभासद राजा सहित नीचे मुँह करके नरक में जाते हैं। जो सभासद अन्याय के मार्ग पर चलने के इच्छुक राजा का अनुगमन करते हैं, वे भी उसके (पाप के) भागी होते हैं, इसलिए उन्हें उस राजा को समझाना चाहिए।

अनुमतिं कुर्वन्तीत्यर्थः।

अर्थात् राजा को अन्याय के मार्ग पर चलने की अनुमति देते हैं।

मनुः[1]।

मनु ने कहा है—

राजा भवे[2]दनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो[3] यत्र निन्द्यते॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

जिस सभा में निन्दनीय (बुरे) व्यक्ति की निन्दा होती है, वहा राजा पापभागी नहीं होता और सभासद भी पाप से मुक्त होते हैं। पाप का (पूरा) फल पाप करने वाले को ही मिलता है। नष्ट किया हुआ धर्म ही नाश करता है और बचाया हुआ धर्म ही बचाता है। इसलिए धर्म का नाश नहीं करना चाहिए; क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि नष्ट किया हुआ धर्म हमें ही नष्ट कर डाले!

अनेनाः निष्पापः।

पाप-रहित व्यक्ति को अनेनस् कहते हैं।

नारदः[4]।

नारद ने कहा है—

ये तु सभ्याः सभां प्राप्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथाप्राप्तं न च ब्रुयुः सर्वे तेऽनृतवादिनः॥

---

१ म० । ८ । १९ । १५ ।   २ म० । भवत्य० ।

३ निन्दाहो यत्र विद्यते (घ)। विद्यते (ङ)

४ ना० ।३।११। व्यासस्मृतावप्येतदपरार्कपठनात्। (या० १।४।)।

जो सभासद सभा में जाकर ध्यान करते हुए चुपचाप बैठते हैं और अवसर आनेपर नहीं बोलते हैं, वे मिथ्यावादी (होने के पापभागी) होते हैं ॥

सभ्याः सभायामधर्मं[१] न्यायं बुद्ध्वा मौनिनो न तिष्ठेयुः उक्तदोषात् ।

सभासद सभा में अधर्म को न्याय समझकर 'चुप न रहें, अन्यथा उक्त दोष (मिथ्याभाषण) के भागी बन जाएँगे ।

इति चण्डेश्वरकृतोऽत्र सभ्यतरङ्गः ॥

श्रीचण्डेश्वर का रचा हुआ सभासद-निरूपण नामक तरंग यहाँ समाप्त हुआ ।

---

१ अधर्मन्यायं (घ)

षष्ठस्तरङ्गः

अथ दुर्गनिरूपणम्

मनुः[1] ।

मनु ने कहा है—

एकश्शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥

किले में रहने वाला एक धनुर्धारी बाहर वाले सौ योद्धाओं का सामना कर सकता है और किले के एक सौ सैनिक दस हजार सैनिकों के साथ युद्ध कर सकत हैं, इसलिए (राजा को चाहिए कि वह) दुर्ग (किला) बनवावे ॥

याज्ञवल्क्यमनू[2] ।

याज्ञवल्क्य और मनु ने कहा है—

रम्यं पशव्यमाजीव्यं जाङ्गलं देशमाविशेत्[3] ।
तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोषात्मगुप्तये ॥
तत्र तत्र च निष्णातानध्यक्षान् कुशलानृजून्[4] ।
प्रकुर्यादायकर्मा[5] न्तव्ययकर्मसु चोद्यतान्[6] ॥

राजा को सुन्दर, पशु के लिए हितकर, (प्रजा के लिए) जीविका चलाने योग्य और धान्यादि से सम्पन्न प्रदेश में निवास करे। वहीं पर प्रजा, खजाना और अपनी रक्षा के लिए दुर्गों का निर्माण करे। फिर विभिन्न स्थानों पर पूर्ण अनुभवी, कुशल, सीधे तथा आय और व्यय के कामों में तत्पर रहनेवाले अधिकारियों को नियुक्त करे ॥

पशव्यं पशूनां हितमाजीव्यं कृषिवाणिज्यादि । जाङ्गलमिति ।

---

१ म० ।६।६४।

२ मा० ।१।३२१-२२ । (म० ।६।६९।६२।८१।)

३ या० । आवसेत् ।

४ या० । शुचीन् ।

५ कर्मात्त (घ) (ङ) इति पाठः प्रामादिकः ।

६ प्रचोद्यतान् इति (ख) (ङ)

पशव्य = पशुओं के लिए हितकर। आजीव्य = खेती, व्यापार आदि (जीविकोपयोगी साधनों से युक्त)। जाङ्गल का अर्थ निम्नलिखित है—

[1]अल्पोदकतृणो यस्तु प्रचारः प्रचुरायतः[2]।
स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः।

जहाँ अल्प जल और घास हो, लोगों का यातायात बहुत हो, क्षेत्रफल बहुत विस्तृत हो और धान्य आदि का बाहुल्य हो, उसे जांगल देश समझना चाहिए॥

एतादृशो देशो जाङ्गल इत्यर्थः। तथाच सुजनहिरण्यरजतमणिमुक्ताप्रवालबहुमूल्यरत्नक्षौमवस्त्रा[3]द्याधारकोषस्वाभिगुप्तये इत्यर्थः।

ऐसा देश जाङ्गल कहलाता है। वहाँ सज्जनों, सोना, चाँदी, मणि, मोती, मूँगा, बहुमूल्यक रत्न, रेशमी वस्त्र आदि के आधारभूत खजानों तथा अपनी रक्षा के लिए दुर्गों का निर्माण करना चाहिए।

धनुर्दुर्गं[4] महीदुर्गं जलदुर्गं[5] वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥

धनुदुर्ग (मरुवेष्टित), महीदुर्ग (पाषाणखण्डवेष्टित), जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग (सेनावेष्टित) और गिरिदुर्ग (पर्वतवेष्टित) का आश्रय लेकर नगर का निर्माण करे॥

अस्यार्थः—धनुर्दुर्गं[6]मुच्छ्रायवेष्टितं[7] सर्वदिशं[8] पञ्चयोजनं

---

१ कुल्लूकटीकायाम्। (म० ।७।६९।)

२ प्रवातः प्रचुरातप इति कुल्लूकपाठः।

३ क्षौराद्या० इति (ख) (ङ)। क्षौरवस्त्रा०।

४ म० ।७।७०। धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गमिति पाठः। ५ जालश्च (घ) (ङ)

६ म०। धन्वदुर्गमिति॥ नास्त्येष पाठः (घ) (ङ)।

७ कुल्लूकभट्टस्तु धनुर्दुर्गमिति पठित्वा 'मरुवेष्टितं चतुर्दिशं पञ्चयोजनमनुदकमित्यर्थमाह॥ मेधातिथिरपि धनुर्दुर्गमिति प्रतीकमुपादाय 'उक्तप्रकारेण द्विगुणोत्सेधेनेष्टकेन शैलेन द्वादशहस्तादूर्ध्वमुद्धतेन तालमूलेन कपिशीर्षचिताग्रेण दृढप्रणाल्या परिक्षिप्तं धनुर्दुर्ग'मिति कुल्लूकविपरीतार्थमाह॥ ८ सर्वतोदिशं (घ) (ङ)।

निर्जलं [।] महीदुर्गं दृषदा पक्वेष्टकया वा विस्ताराद् द्वैगुण्योच्छ्रायेण द्वादशहस्ताद्युन्नतेन[1] संग्रामार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन साधारण[2]गवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण वेष्टितम् । जलदुर्गमगाधजले[3] चतुर्दिशं परिवेष्टितम् । वार्क्ष[4] दुर्गं बहिश्चतुर्दिक्षु योजनमात्रं द्रुमकण्टकलतादिवेष्टितम् । नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायि गजाश्वरथयुक्तपदातिपालितम् । गिरिदुर्गं सर्वतः[5] पृष्ठमतिदुरारोहं संकोचैकमार्गोपेतम्मध्ये नदीप्रस्रवणादिप्रयुक्तजलयुक्तं[6] बहुव्रीह्युत्पन्नक्षेत्रवृक्षावृतम् । दुर्गेषु[7] तेषु मध्यादन्यतमं दुर्गमाश्रित्य पुरं विचारयेदित्यर्थः[8] । तथा[9] ।

इसका अर्थ यह है—धनुर्दुर्ग=चारों ओर पाँच योजन (२० कोश) तक जलरहित तथा ऊँचाई से युक्त (अर्थात् पंचयोजन-विस्तृत मरुभूमि से घिरा हुआ)। महीदुर्ग=पत्थर या पकी ईंटों की बनी हुई चहारदीवारी से घिरा हुआ; वह चहारदीवारी इतनी चौड़ी हो जिस पर युद्ध के समय चला फिरा जा सके, उसकी चौड़ाई की अपेक्षा उसकी ऊँचाई दूनी हो अथवा वह बारह हाथ ऊँची हो तथा साधारण झरोखे आदि से युक्त हो। जलदुर्ग=चारो तरफ अगाध जलवाली खाईसे घिरा हुआ । वार्क्षदुर्ग=बाहर चारों ओर एक योजन तक वृक्ष एवं काँटेदार लता आदि से घिरा हुआ। नृदुर्ग=चारों दिशाओं में अवस्थित हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सेना के द्वारा सुरक्षित। गिरिदुर्ग=सब ओर पीठ करके अवस्थित अर्थात् पर्वतों से घिरा हुआ, जिस पर चढ़ना बहुत कठिन हो, जो एकमात्र संकीर्ण मार्ग से युक्त हो, जहाँ

---

१ हस्तादुन्नतेनेति त्वसन्दिग्धः पाठः ।

२ कुल्लूकभट्टः सावरण० इति । राघवानन्दस्तु 'साधारणगवाक्षादियुक्तेन' इति व्याचष्टे । ३ कु० । अगाधजलेन ।

४ वार्क्षदुर्ग(घ) (ङ) वार्क्षं दुर्गबहिः (ङ) । समन्ततोऽर्धयोजनमात्रं घनमहावृक्षान्वितं वार्क्षमिति मेधातिथिः । कुल्लूकस्तु योजनमात्रमिति ।

५ कु० । पर्वतपृष्ठमिति ।

६ कुल्लूकटीकायामपि (घ) (ङ) । प्रयुक्त इति नास्ति ।

७ दुर्गेष्वेतेषु । (घ) ८ कु० । विरचयेदिति तु समीचीनम् ।

९ म० ।७।७१-७३।

नदी, झरने आदि का जल बहता हो और जो अनेक प्रकार के धान्यों को उत्पन्न करनेवाले क्षेत्रों से आवृत हो। उन दुर्गों में से किसी एक दुर्ग का आश्रय लेकर नगर का निर्माण करे। और—

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
तेषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥
त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः[1] ॥
यथा दुर्गाश्रितानेतान् नोपहिंसन्ति शत्रवः।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥

उक्त छह प्रकार के दुर्गों में से प्रयत्न करके गिरिदुर्ग का आश्रय लेना चाहिए; क्योंकि इन सभी दुर्गों में अधिक गुणों से युक्त होने के कारण गिरदुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। इन दुर्गों में से प्रथम धनुर्दुर्ग में क्रमशः मृग आदि, चूहे आदि और मगर आदि आश्रय लेते हैं। अन्त के तीन दुर्गों में से वृक्षदुर्ग में वानर, नृदुर्ग में मनुष्य तथा पशु-पक्षी गण और गिरिदुर्ग में देवताओं का आवास होता है। जिस प्रकार दुर्गों के आश्रित इन मृगादि जीवों को इनके शत्रु (व्याध आदि) नहीं मार सकते, उसी प्रकार दुग में आश्रित राजा को शत्रु नहीं मार सकते ॥

तथा च यथा तत्तद्दुर्गाश्रितान् मृगादीन् न हिंसन्ति तथा उक्तदुर्गाश्रितं नृपं शत्रवो न हिंसन्ति इत्यर्थः।

तो जैसे उन-उन दुर्गों में वास करनेवाले मृग आदि को उनके शत्रु नहीं मार पाते हैं वैसे उक्त दुर्ग में निवास करनेवाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते हैं (यह उक्त श्लोक का अर्थ है)।

[2]तत् स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥

वह दुर्ग अस्त्र-शस्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र,

---

१ '०नरापराः' इति एवं पूर्वार्धे '०श्रयापरा' इति च पञ्चपुस्तकपाठौ प्रामादिकौ।

२ म० ।७।७५–७९

तृण और जल से परिपूर्ण रहना चाहिए। उसके मध्य में ही काफी लंबा-चौड़ा (खाईं, परकोटे आदि से) सुरक्षित, सब ऋतुओं में आरामदायक, धवल एवं जल और वृक्षों से युक्त अपना गृह (राजभवन) बनवावे।

भारते[1]।

महाभारत में कहा है—

पुरञ्च तैः[2] सुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम्।
अट्टाट्टालकसंवेधं[3] षट्पथं सर्वतो दिशम्॥
तस्य दुर्गाणि कार्याणि पर्याप्तानि बृहन्ति च।
अदुर्गो विषयः कस्य नारेः परिभवास्पदः[4]॥
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च।
अदुर्गो नाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्॥
दुर्ग कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम्।
यो यत्र निपुणः कार्ये तञ्च तत्र नियोजयेत्॥
कार्यमुद्दिष्टकर्मा[6] योऽशास्त्रतोऽपि स मुह्यति।

उन (दुर्गों) से नगर पूर्ण सुरक्षित हो। उसके चारों ओर की दीवारें तथा मुख्य द्वार सुदृढ़ होने चाहिए। सारा नगर ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं से भरा होना चाहिए। सब दिशाओं में छह मार्ग होने चाहिए। नगर के सभी दुर्ग विस्तृत एवं विशाल बनवाने चाहिए। जिसके राज्य में किले नहीं है, वह भला किस शत्रु से पराजित नहीं होता है? दुर्गों की सब ओर उनकी रक्षा के लिए यन्त्र लगाना चाहिए तथा उनका विभाग सुन्दर ढंग से किया जाना चाहिए। दुर्ग से रहित राजा उसी तरह निराश्रय हो जाता है जैसे नाव से गिरा हुआ मनुष्य। जो व्यक्ति जिस कार्य में निपुण हो, उसको उसी में लगाना चाहिए। जो राजा शास्त्रविरुद्ध कार्य करता है, वह धोखा खा जाता है।

---

१ म० भा०। आश्रम०।६।१६-१७।

२ ते इति म० भा० (घ) (ङ)। ३ म० भा०। संबाधं षट्पदम् इति।

४ नास्ति मुद्रितभारते। ५ 'ख्या०' इति (क) (ख) (ङ)

६ कर्मसुद्दष्टकर्मा योऽशास्त्रतोऽपि स मुच्यति। (घ) (ङ)।

अथास्य संक्षेपः। आयुधधनधान्यवाहनब्राह्मणशिल्पियन्त्रयवसोदकं[1] पुष्पवाटिकाजलाधारवृक्षयुतं गृहमालयाढ्यञ्च[2] कारयेत् अट्टाट्टालकाद्यपि दुर्गस्यावश्यकतेति।

इसका सारांश यह है कि दुर्ग को अस्त्र-शस्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र, तृण, जल, पुष्पवाटिका और आलवाल (थाले) सहित वृक्षों से युक्त बनवाना चाहिए। उसके भीतर अनेक प्रकोष्ठों (कमरों) वाला राजभवन बनवावे। अटारी, बुर्ज आदि भी किले के लिए आवश्यक है।

इति चण्डेश्वरकृतोऽत्र दुर्गतरङ्गः॥

श्रीचण्डेश्वर का बनाया हुआ दुर्गतरंग यहाँ समाप्त हुआ।

---

१ यवसेदन। (घ) (ङ) योः। २ मालयाख्यं (ङ)।

सप्तमस्तरङ्गः

अथ मन्त्रणा

तत्र मन्त्रणादेशमाह मनुः[1]।

मनु ने मंत्रणा (गुप्त वार्ता) के संबंध में आदेश दिया है—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निश्शलाके वा मन्त्रयेद् भूरिभावितः[2] ॥

पर्वत की चोटी पर चढ़कर या एकान्त राज-भवन में या जंगल में, जहाँ किसी प्रकार के मंत्रभेद की आशंका न हो, गुप्त मंत्रणा करनी चाहिए।

कालमाह[3]।

(मनु ने मंत्रणा करने का) समय बताया है—

मध्यन्दिनेऽर्द्धरात्रे वा विश्रान्तो गतकल्मषः[4]।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धन्तैरेक एव वा ॥

दोपहर में या आधी रात को जब चित्त शान्त हो और शरीर क्लेशरहित हो तब राजा मंत्रियों के साथ या अकेले ही धर्म, काम और अर्थ का चिन्तन करे।

महाभारते[5]।

महाभारत में कहा है—

सुसंवृतं मन्त्रगृहं स्थलञ्चारुह्य मन्त्रयेः।
अरण्ये निश्शलाके वा न च रात्रौ कथञ्चन ॥

सुगुप्त मंत्रणा-गृह में, उच्च स्थान में या निर्जन वन में जाकर मंत्रणा करे, किन्तु रात्रि में कभी भी मंत्रणा न करे।

निःशलाके जनप्रचाररहिते। इयं देशकालव्यवस्था कालसापेक्षे[6]।

---

१ म० ।७।१४७।
२ म०। अविभावित इति।
३ म० ।७।१५१।
४ म० विगतक्लमः। इति।
५ म० भा०। आश्रम० ।६।२२।
६ इयं देयकालसापेक्षे (ङ)।

(उक्त श्लोकों में) निःशलाक का अर्थ है लोगों के आवागमन से शून्य। यह स्थान और समय की व्यवस्था अवसर की अपेक्षा रखती है (अर्थात् जब जैसा मौका मिले तब तैसा करना चाहिए)।

याज्ञवल्क्यः[1] ।

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम् ।
कुर्याद्यथास्य न विदुः कर्मणामाफलोदयात् ॥

राज्य का मूल मंत्र (मंत्रणा) ही होता है, इसलिए मंत्र को भली भाँति गुप्त रखना चाहिए। जिससे (राजा के सन्धि-विग्रहादि) कार्यों का फल जब तक सामने न हो तब तक अन्य लोग मंत्रणा को नहीं जान पाएँ।

मनुः[2] ।

मनु ने कहा है—

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयातिगान्[3] ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान् मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥
भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योना[4] स्तथैव च ।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो[5] भवेत् ॥

मूर्ख, गूंगा, अंधा, बहरा, (मनुष्य की बोली बोलनेबाले तोता, मैना आदि) पक्षी, अतिवृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी और अंगहीन—इन सब का मंत्रणा करते समय हटा देना चाहिए। ये लोग अपमानित होने पर गुप्त मंत्रणा का भेद खोल देते हैं। वैसे ही (तोते आदि) पक्षी और विशेष कर स्त्रियाँ गुप्त मंत्र को प्रकट कर देती हैं, इसलिए राजा इन सबको मंत्रणा-स्थान से दूर रखे ॥

महाभारते[6] ।

महाभारत में कहा है—

---

१ या० ।१।३४२। २ म० ।७।१४९–१५०।

३ 'नुयोधिमान्' (क) (घ)। 'न्वयोधिमान्' (ख) (ग) (ङ)। इति च पाठौ प्रामादिकौ।

४ योनः। इति (क) (ख) (ग) (ङ) ५ तत्रानृतो भवेदित्यशुद्धः (ङ) पाठः।

६ म० भा०। आश्रम० ।६।२३–२४।

वानरः पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुसारिणः[1] ।
सर्वे[2] मन्त्रगृहे वार्या ये चापि जडपङ्गवः ॥
मन्त्रभेदे हि ये दोषा[3] भवन्ति पृथिवीक्षिताम् ।
न ते शक्याः समाधातुं कथञ्चिदिति मे मतिः ॥

मनुष्यों का अनुसरण करनेवाले जो वानर और पक्षी आदि हैं, उन सब को तथा मूर्ख एवं पंगु मनुष्यों को भी मंत्रणा-गृह में नहीं आने देना चाहिए। गुप्त मन्त्रणा के दूसरों पर प्रकट हो जाने से राजाओं को जो संकट प्राप्त होते हैं, उनका किसी तरह समाधान नहीं किया जा सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ॥

एते जडादयो मन्त्रे त्याज्याः यत[4] एते स्वभावतः पापा अवमानिताः सन्तो मन्त्रभेदका एवेत्यर्थः ।

ये मूर्ख आदि मंत्रणा काल में वर्जित है, क्योंकि ये स्वभावतः पापी होते हैं और अपमानित होने पर गुप्त मंत्र को प्रकट कर देते हैं।

मनुः[5] ।

मनु ने कहा है—

यस्य मन्त्रन्न जानन्ति समागम्य[6] पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोषहीनोऽपि पार्थिवः ॥

जिस राजा की गुप्त मंत्रणा को, मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोग मिलकर भी नहीं जान पाते, वह राजा कोषहीन होने पर भी सारी पृथ्वी का उपभोग करता है ॥

नीतौ ।

नीति-ग्रन्थ में कहा है—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तस्य वार्तया ।
इत्यात्मना[7] द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभुजा ॥

---

१ म० भा० । वानरा इति । मनुष्यानुकारिणः इति च ।
२ सर्वमन्त्रगृहे (ङ) । म० भा० । बर्ज्या ।
३ भेदाः (ङ) ।
४ य एते (ङ) ।
५ म० ।७।१४८।
६ समगत्य (घ) (ङ) ।
७ आत्मनः (घ) (ङ) ।

गुप्त मन्त्रणा छह कानों में जाने से खुल जाती है तथा जो मंत्रणा सन्देश (वार्ता) द्वारा की जाती है उसका भी रहस्य-भेद हो जाता है। इसलिए राजा स्वयं केवल एक (मंत्री) के साथ गुप्त मंत्रणा करे॥

षट्कर्ण इति प्रभोर्द्वौ कर्णौ मन्त्रिणां द्वौ कर्णौ तद्भिन्न-कर्णद्वयपतनान्मन्त्रभेद इत्यर्थः।

'षट्कर्ण' का तात्पर्य यह है कि राजा के दो कान, मन्त्री के दो कान और उन दोनों से भिन्न (किसी) व्यक्ति के दो कान में पड़ने से मन्त्रणा प्रकट हो जाती है।

राजनीतौ[1]।

राजनीति-ग्रन्थ में कहा है—

संरक्षेन्मन्त्रबीजन्तु तद्बीजं हि महीभुजाम्।
तस्मिन् भिन्ने ध्रुवो भेदो गुप्ते गुप्तिरनुत्तमा॥

मंत्रणा के बीज (मूलभाग) को भलीभाँति बचाना चाहिए; क्योंकि वह राजाओं की जड़ है। उसके खुल जाने पर निश्चित ही (राजा का) उच्छेद हो जाता है और उसके गुप्त रहने पर सुरक्षा रहती है।

मन्त्रमाह[2]।

मंत्र (मंत्रणा) का लक्षण यह बताया गया है—[3]

सहायास्साधनोपाया विभागो देशकालयोः।
विपत्तेश्च प्रतीकारः पञ्चाङ्गो मन्त्र उच्यते॥

सहाय, साधन, उपाय, देशकाल-भेद, और विपत्ति का प्रतीकार इन पाँचों अंगों से युक्त मंत्र कहलाता है।

सहाया मन्त्रिणः। साधनोपायास्तर्कादयः। देशकालवि-भागावुक्तौ, यदेयं विपत्तिस्तदासौ प्रतीकार इति पञ्चाङ्गो मन्त्रः। अस्य प्रकारः।

---

१ का० ।१२।३३। २ कामन्दकः ।१२।३६।

३ कामन्दकः ।१२।३९-४०

४ तेषु । इति गणपतिशास्त्रिणा मुद्रितेऽनन्तशयनीये कामन्दकीये। मैथिल-प्राचीन-का०-पुस्तके (१४७६ शाकमिते) 'तेन' इति। ५ का०। यत्र।

सहाय=मंत्री। साधनोपाय=तर्क आदि। देशकालविभाग पहले बताये जा चुके हैं। जब यह विपत्ति पड़े तब वह प्रतीकार किया जाय, इस प्रकार मंत्र पाँच अंगों से युक्त होता है। मंत्र का प्रकार—

[1]अनुतिष्ठेत्समारब्धमनारब्धं प्रयोजयेत्।
प्रचारयेन्मन्त्रविदः कार्यद्वारेष्वनेकधा॥
यत्र तच्चेतसां साम्यं तेन[2] साधु समुत्पतेत्।
यत्र मन्त्रिमनः साम्यं तत्र[3] चेतो न शंकते॥
यत्र सन्तो न निन्दन्ति तं[4] परीयाच्चिकीर्षितम्।
धृतेऽपि मन्त्रे मन्त्रज्ञैः स्वयं भूयो विचारयेत्॥

आरंभ किये गये कार्य को पूर्ण करे और आरंभ न किये गये कार्य को प्रयोग में लावे। कार्य के द्वारों पर मंत्रणा के ज्ञाताओं को अनेक प्रकार से नियुक्त करे (अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर अन्य मंत्रियों से भी सलाह लेनी चाहिए)। जहाँ उन लोगों के चित्त में समानता हो जाय (अर्थात् विचार-साम्य हो) वहाँ अच्छा परिणाम निकलता है। जहाँ मंत्रियों के विचार में समानता होती है वहाँ चित्त में कोई खटका नहीं रहता है। सज्जन पुरुष जिसकी निन्दा नहीं करते हैं, उस स्पृहणीय कार्य को करना चाहिए। मंत्रवेत्ताओं से विचार-विमर्श कर लेने के बाद भी स्वयं पुनः विचार करना चाहिए।

कार्यद्वारेषु मन्त्रबहिःस्थलेषु मन्त्रविदः स्वमन्त्रिभिन्नान्[5]। अनेकधा अनियमितप्रकारेण प्रचारयेत्। तथा चान्योपदेशेन मन्त्रसन्देहो निरसनीयोऽन्यमन्त्रित इति। एवं स्वमन्त्रिमत-साम्ये ब्राह्मणानुमतं परीयात् एवं निर्गलितार्थमपि स्वयं बहु विचारयेत्। पुनः तत्रैव[6]।

कार्यद्वारेषु=मन्त्रणा से पृथक् स्थानों में। मन्त्रविदः=अपने मंत्रियों से भिन्न विचारकों को। अनेकधा=अनियमित प्रकार से। प्रचारयेत्=

---

१ कामन्दकः।१२।३७–४०।

२ तेषु। इति गणपतिशास्त्रिणा मुद्रितेऽनन्तशयनीये कामन्दकीये। मैथिलप्राचीन का०-पुस्तके (१४७६ शकाङ्किते) 'तेन' इति।

३ का०। यत्र। ४ का०। तत्।

५ 'इदं कार्यमुपस्थितं तत्र किमाहुर्भवन्त इति कार्योपायेषु प्रवर्तये'दिति शंकरार्यः कामन्दकटीकाकारः। ६ का०।१२।४०–४२।४६।

लगावे। इससे यह सिद्ध हुआ कि मन्त्रणा में सन्देह उत्पन्न होने पर दूसरे मंत्री से विचार-विमर्श करके उसका निराकरण कर लेना चाहिए। इस प्रकार अपने मंत्री के मत के मिल जाने पर ब्राह्मण से अनुमति ले फिर निष्कर्ष पर पहुँच जाने पर भी स्वयं बहुत विचार करे।

तथा वर्तेत नीतिज्ञो यथा स्वार्थन्न पीडयेत्।
मन्त्रिणः स्वार्थतात्पर्याद्दीर्घमिच्छन्ति विग्रहम् ॥
मन्त्रिणां[1] भोग्यतामेति दीर्घकार्याकुलो नृपः।
आवर्तयेन्मुहुर्मन्त्र[2]म्पूरयेच्च प्रयत्नवान्[3] ॥
प्रयत्नेनाधृतो[4] मन्त्रः प्रचलन्नग्निवद्दहेत्।

नीति जानने वाला राजा उस प्रकार बरते जिससे स्वार्थ की हानि न हो। मंत्री लोग स्वार्थ-सिद्धि के कारण लंबे समय तक युद्ध चाहते हैं। और दीर्घकालीन कार्य से व्याकुल राजा मन्त्रियों का भोग्य बन जाता है (अर्थात् स्वार्थी मंत्री उसे लूट लेते हैं)। प्रयत्नशील राजा मन्त्र को बार-बार विचार करे और उसको पूर्ण करे। प्रयत्न-पूर्वक धारण किया गया मन्त्र प्रयुक्त होने पर अग्नि के समान जलाता है॥

यदा दीर्घकार्याकुलः स्यात्तदाऽस्मत्स्वार्थदः स्यादित्यभिप्रायः। अग्निवदिति यथाग्निः प्रचलन् दहेत्तथैव मन्त्रोऽपि।

'दीर्घकार्याकुलः' का तात्पर्य यह है कि जब राजा बड़े कार्य में फँस जायगा तब हमारे स्वार्थ को पूर्ण करेगा (क्योंकि उस समय बिना मन्त्रियों के उसका कार्य नहीं चलेगा, तब हम जैसा चाहेंगे वैसा उससे ऐंठेंगे)। 'अग्निवत्' का यह अर्थ है कि जैसे चलता हुआ अग्नि वस्तुओं जला डालता है उसी तरह मन्त्र भी (लक्ष्य-वेध कर डालता है)।

[5]अप्यात्म[6] सन्ततेर्मन्त्रं संरक्षेत्तत्परस्तु सन्।
अरक्ष्यमाणमन्त्रं[7] हि भिन्दन्त्यात्मपरम्पराः ॥

---

१ तेषां च। इत्यनन्तशनीय का०। मन्त्रिणामिति मैथिल का० पुस्तके।

२ मन्त्रान् कारयेच्च (घ) (ङ) ३ धारयेच्च प्रयत्नतः। इति का०।

४ अप्रयत्नधृत इति का०। ५ का० ।१२।४५।

६ आप्ताप्त० इति का०।

७ अरक्ष्यमाणं। (घ) (ङ)। कामन्दकीये च॥ भिनत्त्यात्मपरम्परा। (घ) (ङ)। कामन्दकीये च।

सावधान होकर मन्त्र को अपनी संतान से भी (या आत्मीय जनों के समूह से भी) बचावे; क्योंकि अरक्षित मन्त्र आत्मीय व्यक्तियों के समूह को नष्ट कर डालता है ॥

आत्मपरम्परा आत्मीयपरम्पराः। य इष्टस्तस्यापि कोऽपीष्ट इत्यर्थः।

'आत्मपरम्परा' का अर्थ है—आत्मीय जनों के समूह। अर्थात् जो राजा का इष्ट (प्रिय) व्यक्ति है, उसका भी कोई इष्ट है (फिर उसका भी कोई इष्ट है, इस प्रकार इष्ट जनों का समूह बन जाता है)।

मनः[1] प्रसादबुद्धी[2] च तथा कारणपाटवम्[3]।
सहायोत्थानसम्पच्च कार्याणां[4] सिद्धिलक्षणम् ॥
मनोऽप्रसादोऽसत्यश्च[5] सुप्तप्रलापितानि च।
भिन्दन्ति मन्त्रं प्रच्छन्ना कामिन्योऽवमतास्तथा ॥

मन में प्रसन्नता, बुद्धि, कारणों की समीचीनता (या इन्द्रियों की क्षमता), सहायकों का उत्थान और सम्पत्ति (का आगमन) ये पाँच कार्य की सिद्धि के लक्षण हैं। मन में विषाद, मिथ्या भाषण, नींद में बड़बड़ाना, छिपे लोग और अपमानित स्त्रियाँ—ये पाँच मन्त्र को प्रकट कर देते हैं ॥

प्रसादः प्रसन्नता। बुद्धिर्यथार्थस्वमतपरमतानुसारिणी, कारणपाटवं कारणसम्यक्त्वम्, सहायोत्थानं प्रबलसाहित्यं, सम्पद्धनमेभिः कार्यसिद्धिः। अप्र[6]सादादिपञ्चासिद्धिकारणं तथाचोक्तमन्त्रेणासाध्यमपि साध्यं, 'स कृत्स्ना'मिति मनोरभिधानात् तथा चामन्त्रे[7] मन्त्रभेदे स्वप्रमादेषु सत्स्वर्थहानिरिति प्रकरणार्थः।

---

१ का० ।१२।४२।४६।

२ 'प्रसादः श्रद्धा वाक्' इति मै० का०। 'प्रसादः श्रद्धा च' अ० का०।

३ कारणपाटवम् इति का०।

४ अ० का०। 'कर्मणां' मै० का०। 'कार्याणां'।

५ का०। मदः प्रमादः कामश्च इति। ६ अप्रसादादि। (घ) (ङ)

७ मन्त्रभेदे स्वप्रसादेषु (घ) (ङ)।

प्रसाद् = प्रसन्नता। बुद्धि=यथार्थ रूप से अपने विचार और दूसरे के विचार का अनुसरण करने वाली। कारण पाटव=कारणों का समीचीन होना। सहायोत्थान=दृढता के साथ सहायक होना। सम्पत्=धन। इनसे कार्य की सिद्धि होती है। अप्रसन्नता आदि पाँच कार्य की असिद्धि के कारण हैं। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उक्त प्रकार से धारण किये गये मंत्र के प्रभाव से असाध्य कार्य भी सिद्ध हो जाता है। मनु ने भी कहा है—'गुप्त मंत्रणा के प्रभाव से राजा सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करता है'। किन्तु मंत्रणा न करने से, मन्त्रणा के प्रकट हो जाने से और प्रमाद करने से अर्थ की हानि होती है।

इति चण्डेश्वरकृतोऽत्र मन्त्रणातरङ्गः।

श्री चण्डेश्वर द्वारा रचित मंत्रणा निरूपण नामक तरंग समाप्त।

अष्टमस्तरङ्गः

अथ कोषनिरूपणम्

खजाने का निरूपण किया जाता है—

नीतौ[1] ।

नीति के ग्रन्थ में कहा है—

बह्वादानोऽल्पनिःस्रावः ख्यातः[2] पूजितदैवतः ।
ईप्सितद्रव्यसम्पूर्णो हृद्यः स्वाप्तैरधिष्ठितः[3] ॥
मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः ।
धर्मार्जितो व्ययसहः कोषः कोषज्ञसम्मतः ॥

कोष के ज्ञाता लोग ऐसे कोष को पसन्द करते हैं, जिसमें दिया जाय बहुत पर निकाला जाय कम। वह (कोष) प्रसिद्ध हो, वहाँ देवताओं की पूजा की गई हो अभिलषित द्रव्यों से भरा हुआ हो, सुन्दर हो, विश्वस्त-जनों की देखरेख में हो, मोती, सोना और रत्नों से परिपूर्ण हो, पिता-पितामह (आदि) के अनुरूप हो, धर्म से उपार्जित किया गया हो और व्यय (का भार) सहन करने वाला हो ।

आदानमत्र निःक्षेपः, निःस्रावो निष्कासनं, स्वाप्तैरतिप्रत्यायितैरधिष्ठितो रक्षितः, पितृपैतामहमुचितं यत्रेति समासः, धर्मार्जितो राज्ञः प्रजापालनं धर्मस्तेनार्जितः, आपदि व्ययेऽपि नाकुलः । ननु प्रजापालनमदृष्टफलजनकं कथं तेनार्जितमिति चेन्न, प्रजापालनस्यापि परम्परयार्थनिमित्तत्वात् , धर्माद् वृद्धिरित्यन्ये ।

यहाँ आदान का अर्थ है (खजाने में द्रव्य) डालना। निःस्राव कहते हैं निकालने को। स्वाप्तै =अत्यन्त विश्वस्त व्यक्तियों के द्वारा।

---

१ कामन्दकः ।४।६०–६१ ।

२ 'खातः' । इति साधीयान् कोषस्य नितरां गोपनीयत्वात् ।

३ 'भृत्यैः' । इति कामन्दकपाठान्तरम् ।

अधिष्ठितः=सुरक्षित। पितृपैतामहोचितः = पिता और पितामह के योग्य (अर्थात् पिता-पितामह के समय खजाने में जितना द्रव्य रहा हो, उतना द्रव्य अब भी रहे) 'पितृपैतामहम् उचितं यत्र' इस प्रकार के विग्रह-वाक्य में बहुव्रीहि समास हुआ है। धर्मार्जितः—प्रजा-पालन करना राजा का धर्म है, उसके द्वारा उपार्जन किया हुआ। अतएव विपत्ति के समय खर्च करने पर भी न घटने वाला (कोष होना चाहिए। आशंका होती है कि प्राजा-पालन तो अदृष्ट फल का कारण है। तब उससे उपार्जन कैसे किया जाएगा? उत्तर है—प्रजा-पालन भी परम्परया अर्थ का कारण होता है, क्योंकि धर्म से (धन की) वृद्धि होती है, ऐसा अन्य आचार्यों ने कहा है।

[1]धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च।
आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा॥

खजाने वाले को चाहिए कि वह धर्म के निमित्त, अर्थ के लिए, सेवकों के भरण-पोषण के लिए और आपत्ति-काल के लिए खजाने की सदा रक्षा करे।

[2]आपदर्थमिति धनेन विपत्तिप्रतीकार इत्याशयः, संरक्ष्य इति सर्वत्रान्वयः। अत्रार्थे मनुः[3]।

'आपदर्थम्' का तात्पर्य है कि धन से विपत्ति का सामना करने के लिए। संरक्ष्य एक अर्थ बचाना चाहिए, इसाक अन्वय 'धर्महेतो' आदि सभी पदों के साथ है। यहाँ अर्थ के बारे में मनु ने कहा है—

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥

आपत्ति-काल के लिए धन की रक्षा करे, धन से भी अधिक स्त्री की रक्षा करे और स्त्री तथा धन से भी अधिक सदा आत्मा की रक्षा करे।

आपदर्थं[4] स्त्रीयापदर्थमात्मानमित्युपसंहारात् अत्र धनमित्युपलक्षणं 'सर्वतं[5] आत्मानं गोपायित' इति श्रुतेः।

---

१ का० ।४।६२। २ आपदर्थधनेन (घ) (ङ)।
३ म० ।७।२१३। ४ आपदर्थमिति (घ) (ङ)
५ सर्वत्र (ङ)

'आपदर्थम्' का तात्पर्य है कि अपने विपत्ति-काल के लिए, क्योंकि अन्त में 'आत्मानम्' अर्थात् अपनी रक्षा की बात कही गई है। यहाँ 'धनम्' यह उपलक्षण (अन्य-बोधक भी) है; क्योंकि श्रुति कहती है—'सब प्रकार से आत्मा की रक्षा करो'।

[1]क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥

जो भूमि अपने को सुखदायक हो, उपजाऊ हो, पशुओं की वृद्धि करनेवाली हो, उस भूमि को भी अपने कल्याण के निमित्त राजा बिना विचारे ही छोड़ दे ॥

इदं स्वरक्षाप्रकारान्तराभावे ॥

उक्त वचन उस स्थिति में लागू होता है जब अन्य प्रकार से अपनी रक्षा करने की गुंजाइश न हो।

याज्ञवल्क्यः[2]।

हिरण्यं व्यापृतानीतं भाण्डागारेषु निःक्षिपेत् ॥

नियुक्त व्यक्तियों के द्वारा लाये गये सुवर्ण को खजाने में रखे।

व्यापृतानीतं नियुक्तैरानीतं कोषस्य भाण्डागारादयो भेदाः अत्र बहुवचननिर्देशात्। तदाह राजनीतौ महाभारते[3] च ॥

'व्यापृतानीतम्' का अर्थ है कि नियुक्त सेवकों द्वारा लाया हुआ (सोना)। 'भाण्डागार' आदि कोष (खजाने) के भेद हैं (अर्थात् कोषवाची शब्द हैं), क्योंकि यहाँ ('भाण्डागारेषु' में) बहुवचन का निर्देश है। ऐसी बात राजनीति-नामक ग्रन्थ में और महाभारत में भी कही गई है—

कोषस्य संचये[4] यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा।
विविधस्य महाराज विपरीतं विपर्ययात्[5] ॥

हे महाराज! नाना प्रकार के कोष का संग्रह करने के लिए तुम्हें सदा न्यायानुकूल प्रयत्न करना चाहिए। इसमें विपर्यय करने से (अर्थात् अन्यायपूर्ण प्रयत्न करने से) उलटा परिणाम होता है (अर्थात् कोष का नाश होता है) ॥

---

१ म० ।७।२१२। २ या० ।१।३२८।
३ म० भा० । आश्रम० ६।४० । ४ म० भा० । निचये ।
५ म० भा० । विवर्जयेः ।

नीतौ[1] ।

नीति-ग्रन्थ में कहा है—

संवर्धयेत् सदा कोषमाप्तैस्तज्ज्ञैरधिष्ठितम् ।
काले चास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्गपरिवृद्धये[2] ॥

कोष के जानकार विश्वस्त जनों द्वारा रक्षित कोष को सदा बढ़ाना चाहिए और समय पर धर्म, अर्थ तथा काम (धनोपभोग) की वृद्धि के लिए उसका व्यय भी करना चाहिए ।

काले आवश्यके, तज्ज्ञैः कोशकर्मप्रवीणैः 'आप्तैरतीष्टसम्बन्धिभिस्तज्ज्ञैस्तत्कर्मज्ञैश्चे'ति सागरः । 'तज्ज्ञैरिष्टै'रिति पल्लवः । तथा च धनार्जनं कोषसंचयश्च त्रिवर्गहेतुरिति । 'धनमर्जय काकुत्स्थ धनमूलमिदं जगदि'त्याद्युक्तेः ।

काले=आवश्यक समय में । तज्ज्ञैः=खजाने के कार्यों में कुशल । 'आप्तैः=अत्यन्त इष्ट सम्बन्धियों और तज्ज्ञैः=उस कार्य को जानने वालों के द्वारा' यह सागर-ग्रन्थ में कहा गया है । 'उसके ज्ञाता इष्ट व्यक्तियों के द्वारा' यह पल्लव-ग्रन्थ में अभिहित है । इससे यह सिद्ध होता है कि धन उपार्जन करना और कोष का संचय करना—ये दोनों धर्म, अर्थ और काम के कारण हैं । कहा भी है—'हे ककुत्स्थवंशीय महाराज ! धन उपार्जन कीजिए, क्योंकि इस संसार का मूल धन है (अर्थात् धन ही इसमें प्रधान है)' इत्यादि ।

इति चण्डेश्वरकृतः कोषतरङ्गः ।

श्री चण्डेश्वर द्वारा रचित कोष-तरङ्ग समाप्त ।

---

१ कामन्दकः ।५।८६।

२ 'प्रतिपत्तये' । इति अ० का० ॥ 'परिवृद्धये' इति मै० का० ।

नवमस्तरङ्गः

अथ बलनिरूपणम्

सेना का निरूपण किया जाता है—

मनुः[1] ।

मनु ने कहा है—

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।

कार्य और धन की सिद्धि के लिए राजा अपनी और सेना की स्थिति को (अलग-अलग करे) ।

बलमत्र षडात्मकं स्वामिपदस्वरसात् । भारते[2] ।

यहाँ 'स्वामी' पद के उल्लेख से बल छह (मंत्र, कोष, पैदल, हाथी, घोड़े और रथ) प्रकार का समझना चाहिए । महाभारत में कहा है—

यात्राङ्गच्छेद्बलैर्युक्तो राजा षड्भिः परन्तप ।
युक्तश्च देशकालाभ्यां तथा[3] बलगुणैर्नृपः ॥
हृष्टपुष्टबलो गच्छेद्राजा वृद्ध्युदये रतः ।
[4]आहूतश्चाप्यथो यायादनृतावपि पार्थिवः[5] ॥

हे परन्तप ! नरेश देश-काल की अनुकूलता होने पर हाथी, राजा घोड़े आदि छह प्रकार की सेना तथा सन्धि, विग्रह आदि सैनिक गुणों से युक्त होकर विजय के लिए यात्रा करे । अपने अभ्युदय के लिए तत्पर तथा हृष्ट-पुष्ट सेना से युक्त राजा यदि युद्ध के लिए ललकारा जाय तो वह अनुकूल मौसम न होने पर भी शत्रु पर चढ़ाई कर दे ॥

बलगुणैरत्यित्र बलं त्रिविधशक्त्यात्मकं, बलं शक्तिमात्रम् तस्याः प्रथमत उपयुक्तत्वात् इत्यन्ये । गुणा अत्र सन्ध्यादयः शरशिक्षादयोऽपि, दण्डनीत्यादय इति गुरवः । अनृतावपि

---

१ म० ।७।१६७। २ म० भा० । आश्रम० ।८।१२-१३।

३ म० भा० । बलैरात्मगुणैस्तथा । ४ म० भा० । अकृश० ।

५ म० भा० । पाण्डव ।

वक्ष्यमाणसंग्रामसमयभिन्ने, षड्भिर्हस्त्यश्वरथपदातिसेनासैन्यात्मकैः[1] शक्तिस्त्रिविधा प्रभावजा उत्साहजा मन्त्रजा एतास्वपि मन्त्रजा बलवती। तदाह कामन्दकः[2]।

'बलगुणैः' इसमें बल का अर्थ है तीन प्रकार की शक्तियाँ (प्रभावज, उत्साहज तथा मन्त्रज)। दूसरे आचार्यों का कथन है कि शक्तिमात्र बल है, क्योंकि पहले-पहल उसी (शक्ति) का उपयोग किया जाता है। यहाँ गुण का अर्थ है सन्धि (विग्रह) आदि, बाण (चलाने) की शिक्षा आदि और राजनीति आदि--यह (मेरे) गुरु का मत है। अनृतावपि=आगे बताये जाने वाले युद्ध के समय से भिन्न समय में भी। षड्भिः=हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सेना और सैनिक (? सेनापति)। शक्ति तीन प्रकार की होती है—(१) प्रभाव से उत्पन्न, (२) उत्साह से उत्पन्न और (३) मन्त्रणा से उत्पन्न। इनमें भी मन्त्रणा से उत्पन्न शक्ति बलवती होती है। जैसा कि कामन्दक ने कहा है—

प्रभावोत्साहशक्तिभ्यां मन्त्रशक्तिः प्रशस्यते।
प्रभावोत्साहवान् काव्यो जितो देवपुरोधसा[3] ॥
अशिक्षितनयः सिंहो हन्तीभं यौवनं[4] बलात्।
तच्च वीरो[5] नरस्तेषां शतानि मतिमान् जयेत् ॥
शक्याशक्यपरिच्छेदं कुर्याद् बुद्ध्या प्रसन्नया।
केवलं दण्डभङ्गाय दण्डिनः शैलताडनम्[6] ॥
उपायपूर्वं लिप्सेत कालं वीक्ष्य समुत्पतेत्।
पश्चात्तापाय भवति विक्रमैकरसज्ञता ॥

प्रभाव-शक्ति और उत्साह-शक्ति की अपेक्षा मन्त्र-शक्ति श्रेष्ठ है। क्योंकि (केवल) प्रभाव-शक्ति और उत्साह-शक्ति से सम्पन्न शुक्राचार्य

---

१ सेना-सेनान्यात्मकैरित्युचितम्॥ कामन्दकीये तु 'षडङ्गं मन्त्रकोशाभ्यां पदात्यश्वरथद्विपैः' (का० ।१९।२४)। पादात० (ङ)। सेनात्मकैः (घ) (ङ)

२ का० ।१२।७-८।१०-११।

३ जितो देवपुरोधसेति कथा शंकरार्यटीकायां द्रष्टव्या।

४ का०। केवलं।

५ का०। धीरः।

६ दन्तभङ्गाय दन्तिनः इति (क) (ग) (घ) दण्डिनः (ङ) कामन्दकीये च।

को (मन्त्र-शक्ति-सम्पन्न) बृहस्पति ने जीत लिया था। नीति (अर्थात् मारने के ढंग) को न सीखा हुआ सिंह बल से जवान हाथी को मारता है, उस सिंह को वीर पुरुष मारता है और सैकड़ों वीर पुरुषों को बुद्धिमान् (अर्थात् नीति जानने वाला) व्यक्ति जीत लेता है। राजा को चाहिए कि वह अपनी निर्मल बुद्धि से 'कौन काम हम कर सकते हैं और कौन नहीं कर सकते' इसका विवेक कर ले। क्योंकि डंडे से यदि पर्वत को पीटा जाय तो केवल डंडा ही टूटेगा (उससे कोई लाभ नहीं होगा, उसी तरह बिना अपने बलाबल की जाँच किये बलवान् राजा से भिड़ जाना अपने लिए विपत्ति को बुलाना ही है)। उपाय के साथ ही (किसी वस्तु की या किसी राजा से भिड़ने की) इच्छा करे और समय देखकर चढ़ाई कर दे। क्योंकि (उपाय को छोड़ कर) केवल पराक्रम का ही रसज्ञ होना पश्चात्ताप का निमित्त होता है ॥

मनुः[1] ।

मनु ने कहा है—

कृत्वा विधानं मूले च यात्रिकञ्च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदञ्चैव चारान् सम्यग् विधाय च ॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधञ्च बलं स्वकम् ।
साम्परायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥

अपने दुर्ग और देश की रक्षा के लिए राजा को चाहिए कि वह प्रधान पुरुष की अधीनता में सेना का सुप्रबन्ध करे; यात्रा के उपयुक्त सभी सामान साथ ले ले; शत्रु-राज्य के गुप्त छिद्रों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों को भेजे; जांगल, आनूप और आटविक—इन तीन प्रकार के मार्गों का परिष्कार करे; तदनन्तर (हाथी, घोड़े आदि) छह प्रकार के बलों का संयोजन करके रण-नीति के अनुसार धीरे-धीरे शत्रु की नगरी पर आक्रमण करने के लिए यात्रा करे।

मूले दुर्गराष्ट्ररूपे, विधानं पार्ष्णिग्राहसंविधानं, यात्रिकं यात्रोपयुक्तं वाहनादि, आस्पदं शत्रुदेशावस्थानायान्नादि[2], चारान्

---

१ म० ।६।१८४-८५। २ (घ) (ङ) योः अन्नम्।

शत्रुदेशमार्गमन्त्रविदस्तत्पक्षकापटिकादीन्, साम्परायिककल्पेन सांग्रामिककल्पेन ।

मूले=दुर्ग और राष्ट्र में । विधानम्=सेनापति की देखरेख में सेना का सुप्रबन्ध । यात्रिकम्=यात्रा के लिए उपयुक्त सवारी आदि । आस्पदम्=शत्रु-देश में रहने के लिए अन्न आदि की व्यवस्था । चारान्=शत्रु देश के मार्गों तथा शत्रु के भेदों को जानने वाले और उसके पक्ष में कपट रूप से रहनेवाले । साम्परायिककल्पेन=युद्ध-नीति के अनुसार ।

भारते[1] ।

महाभारत में कहा है—

प्रयास्यमानो नृपतिस्त्रिविधां परिचिन्तयेत् ।
आत्मनश्चैव शत्रोश्च शक्तिं शास्त्रविशारदः ॥
उत्साहप्रभुशक्तिभ्यां मित्रशक्त्या[2] च भारत ।
उपपन्नो नृपो यायाद् विपरीतमतोऽन्यथा[3] ॥

शत्रु पर चढ़ाई करनेवाले शास्त्रविशारद राजा को अपनी और शत्रु की त्रिविध शक्तियों पर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिए। हे भरतकुलोत्पन्न राजा ! जो राजा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति और मित्र(? मन्त्र)-शक्ति में शत्रु की अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा हो, उसे ही आक्रमण करना चाहिए। यदि इसके विपरीत अवस्था हो तो आक्रमण का विचार त्याग देना चाहिए।

षड्विधमपि चतुर्विधं तत्रैव ।

वहीं पर (महाभारत में ही) चार प्रकार का और छह प्रकार का भी बल बताया गया है ।

आददीत बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा ।
सदा अरिबलञ्चैव तथा श्रेणीबलञ्च यत्[4] ॥
तत्र मित्रबलं राजन् मौलञ्चैव विशिष्यते ।

---

१ म० भा० । आश्रम० ।८।५-९।२।

२ म० भा० । मन्त्र० । ३ म० भा० । विपरीतञ्च वर्जयेत् इति ।

४ म० भा० । अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणीबलं प्रभो इति ।

श्रेणीबलं भृतञ्चैव तुल्यमेवेति[1] मे मतिः ।
[2]यथाचारबलञ्चैव परस्परसमं नृप ॥

राजा को अपने पास मौल-बल (पिता-पितामह आदि के क्रम से प्राप्त बल), मित्र-बल, शत्रुबल (शत्रु को छोड़कर आये हुए बल) और श्रेणी-बल (सन्धि करने के लिए आये हुए बल) का सर्वदा संग्रह करना चाहिए। राजन्! इनमें मित्र-बल और मौल बल सबसे बढ़कर हैं। श्रेणी-बल और भृत्य-बल, ये दोनों समान ही हैं; ऐसा मेरा विश्वास है। नरेश! चार-बल (गुप्तचरों का बल) भी परस्पर समान ही है॥

मौलं पितृपितामहादिक्रमागतम्, अरिबलं[3] विहायागतम्। श्रेणीबलं साहित्यार्थमागतम्। तथा च मौलबलं मित्रबलञ्च विश्वसनीयमतो विशिष्यते, श्रेणीबलन्तु भृतकवत् यथा भृतकस्य भरणमेव निमित्तं तेन प्राणसंशयेऽपसरणसंभावना तथा श्रेणीबलस्य साहित्यनिमित्तादपसरणसंभावना। अयमाशयः-अरिबलस्य ग्रहणमरिन्यूनीकरणाय न तु तत्र विश्वासः, पञ्चमे चारबले उभयसम्बन्धादविश्वासस्तथैवेत्यर्थः। अत एव मनुः[4]।

मौलम्=पिता, पितामह आदि के (वंश-)क्रम से आया हुआ (बल)। अरिबलम्=(किसी कारण) शत्रु को छोड़कर आया हुआ (बल)। श्रेणीबलम्—मेल करने के लिए आया हुआ (बल)। इनमें मौलबल और मित्रबल विश्वसनीय होते हैं, इसलिए श्रेष्ठ हैं। श्रेणीबल तो भृत्य की तरह होता है। जैसे भृत्य को वेतनमात्र (साथ देने का) कारण होता है, अतएव प्राण जाने का सन्देह उत्पन्न होने पर भृत्य के भाग जाने की संभावना रहती है, उसी तरह श्रेणीबल के मेल के कारण से (प्राण संशय उपस्थित होने पर) भाग जाने की संभावना रहती है। तात्पर्य यह है कि अरिबल का स्वीकार शत्रु को न्यून करने के लिए किया जाता है, न कि उसमें विश्वास किया जाता है। पाँचवें चारबल का दोनों (अपने तथा शत्रु) से सम्बन्ध रहता है, इसलिए वह भी उसी तरह अविश्वसनीय है। अतएव मनु ने कहा है—

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥

---

१ म० भा०। तुल्ये एवेति। २ म० भा०। तथा। इति।

३ अरिबलं शत्रुं विहायागतमिति पाठः (घ) (ङ) योर्नास्ति।

४ म० ।७।१८६।

जो मित्र छिपे तौर पर शत्रु की सेवा करता हो और जो असन्तुष्ट नौकर एक बार कार्य छोड़कर फिर कार्य पर आया हो, उनसे सावधान रहना चाहिए; क्योंकि ये बड़े विपत्तिकारक शत्रु होते हैं।

गतप्रत्यागते एकदा तिरस्कारादिना बहिः कृते पुनरागते कष्टतर इति तेन कृतं वैरिनिर्यातनं अप्रतीकार्यमेवेति भावः। मनुः[1]।

गतप्रत्यागते=एक बार अपमान आदि के साथ निकाल दिया गया हो और फिर (नौकरी करने) आया हो। (ऐसा नौकर) बहुत कष्टदायक होता है। उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतिशोध का प्रतीकार नहीं होता है। मनु ने कहा है—

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्राम्महीपतिः।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम्॥
अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः॥

राजा शुभ अगहन के महीने में युद्ध के लिए यात्रा करे अथवा अपने बल के अनुसार फाल्गुन या चैत के महीने में शत्रु-राज्य पर चढ़ाई करे। जब अन्य महीनों में भी अपनी विजय का निश्चय हो जाय और देखे कि शत्रु संकट में फंसा हुआ है तब वह किसी भी समय आक्रमण कर सकता है।

मार्गशीर्षे अग्रहणे स्वेच्छागमनमुक्तमिदं नाह्वानेन गमनादौ, तदा गमने प्रत्यवायप्रसङ्गात्। संक्षिप्याह याज्ञवल्क्यः[2]।

मार्गशीर्ष=अगहन में। अपनी इच्छा से युद्ध-यात्रा करने के लिए यह समय बताया गया है न कि चुनौती के कारण की जाने वाली युद्ध-यात्रा आदि के लिए (इसका उपयोग बताया गया है)। स्वेच्छा से अन्य समय युद्ध-यात्रा करने पर पाप का भागी होना पड़ता है। संक्षेप में याज्ञवल्क्य ने कहा है—

यदा सम्यग्गुणोपेतं[3] परराष्ट्रं तदा व्रजेत्॥

---

१ म० ।७।१८२-१८३। २ या० ।१।३४८।
३ या० । सस्यगुणोपेतं ।

जब दूसरे राजा का देश भली भाँति गुणों (सस्य-सम्पदाओं) से युक्त हो तब उस पर चढ़ाई करे।

इदं पूर्वकृत्यमथ संग्रामकृत्यमाह मनुः[1]।

यह युद्ध से पूर्व का कार्य है। अब युद्ध का कार्य बताया जाता है, जैसा कि मनु ने कहा है—

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥
यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत तदा[2] स्वयम्॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥
गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः॥
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूह्य व्यूहेन योधयेत्॥

युद्ध-मार्ग में राजा दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह या गरुडव्यूह रचकर आगे बढ़े। जिस दिशा से राजा को भय की आशंका हो, उस ओर सेना को अधिक तादात में नियोजित करे और स्वयं पद्मव्यूह रचकर रहे। सेनापति और सेनाध्यक्षों को सब दिशाओं में सुनियोजित करे और जिस दिशा से भय की आशंका हो, उसी को पूर्व दिशा माने (अर्थात् उसी दिशा में आगे बढ़े)। व्यूह के चारों ओर ऐसे विश्वस्त सैनिकों को नियुक्त करे, जो युद्ध-संकेत जानते हों, जो जमकर रहने और युद्ध करने में कुशल हों और जो भीरु तथा विश्वासघाती न हों। यदि सैनिक कम हों तो उन्हें मिलाकर लड़ावे। यदि अधिक हों तो उन्हें स्वेच्छा से फैलाकर सूचीव्यूह या वज्रव्यूह रचकर युद्ध करावे।

दण्डशकटवराहसूचीगरुडपद्मवज्राकारा व्यूहाः, व्यूहरचना तु व्यूहमध्ये पद्मव्यूहस्थो राजा अग्रे बलाध्यक्षः व्यूहपश्चात्सेनानीति[3] तत्पार्श्वयोर्हस्तिनः तत्समीपे व्यूहमध्येऽश्वाः। तत्समीपे

१ म० ।७।१८७-९१ २ म० । 'सदा' । इति । (घ) सदा ।
३ इति नास्ति (घ) पुस्तके ।

व्यूहमध्ये पदातयः। व्यूहस्वरूपं सर्वतो भये सति समविन्यासो दण्डव्यूहः, पृष्ठतो भये सति सूच्याकाराग्रः शकटव्यूहः, पार्श्वतो भये सति सूक्ष्ममुखः पश्चाद्भागः पृथुमध्यो वराहस्तथा एष एव पृथुतरमध्यो गरुडः, वराहविपर्ययेण मकरः पश्चादग्रे[1] च भये सति पिपीलिकापंक्तिरिव शीघ्रप्रवीरपुरुषमुखः सूचीव्यूहस्सोऽग्रे भये सति पद्माकारः पद्मव्यूहः, वज्राकारो वज्रव्यूहः, इमौ सर्वसाधारणौ एतैर्गच्छेदित्यर्थः। अत्र यद्दिशो भयं सैव पूर्वा, बलविस्तारोऽपि तत्रैव। गुल्मान्सैन्यान्तर्गतसैन्यसमूहान्, कृतसंज्ञान् भेरीपटहादिभेदेन कृतसंकेतान्, स्थानेऽवस्थाने[2] अल्पानेकत्रीकृत्य[3] बहून् यथेष्टं योधयेत्।

डंडा, गाड़ी, सूअर, सूई, गरुड, कमल और वज्र के आकार में सैनिकों को युद्ध-भूमि में यथोचित स्थान पर रखने को क्रमशः दण्ड-व्यूह, शकटव्यूह आदि कहते हैं। व्यूह-रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि व्यूहों के बीच पद्मव्यूह में राजा, आगे सेनाध्यक्ष, व्यूहों के पीछे सेनापति, उसके दोनों बगल हाथी और उसके समीप व्यूह-मध्य में घोड़ों को रखना चाहिए। घोड़ों के समीप व्यूह-मध्य में पैदल सैनिक रहें। व्यूहों का स्वरूप सब ओर से भय उपस्थित होने पर सेना को सीधी करके रखना दण्डव्यूह कहलाता है। पृष्ठभाग से भय उपस्थित होने पर सेना के अग्रभाग को सूई के आकार में रखना शकट-व्यूह कहलाता है। दोनों बगल से भय उपस्थित होने पर मुख भाग को सूक्ष्म और पिछले भाग के मध्य को विशाल करके रखना वराह-व्यूह' कहलाता है। इसी के मध्य भाग को और अधिक विशाल करके रखने पर 'गरुडव्यूह' बन जाता है। वराहव्यूह को उलटा करके रखने पर (अर्थात् मुख भाग को विशाल और पिछले भाग को सूक्ष्म कर देने पर) 'मकरव्यूह' हो जाता है। पीछे और आगे से भय उपस्थित होने पर चींटियों की कतार के समान शीघ्र श्रेष्ठ वीर पुरुषों को मुख-भाग में खड़ा कर देना 'सूचीव्यूह' कहलाता है। आगे से भय उपस्थित होने पर कमल के आकार में सेना को रखना पद्मव्यूह और वज्र के आकार में रखना 'वज्रव्यूह' कहलाता है। ये दोनों व्यूह सर्वसा-

१ कु०। अग्रे पश्चाच्चोभयत्र भये सति।

२ अवस्थाने इति (ङ) पुस्तके नास्ति। ३ एकीकृत्य (घ) (ङ)।

साधारण हैं। इन व्यूहों की रचना करके आगे बढ़ना चाहिए। यहाँ जिस दिशा से भय उपस्थित हो, वही पूर्वदिशा कहलाती है। वहीं सेना का विस्तार भी करना चाहिए। गुल्मान्=सेना के अन्तर्वर्ती सैनिक-समूहों को। कृतसंज्ञान्=ढोल, नगाड़े आदि के शब्द से संकेत करने वालों को। स्थाने=डटे रहने में। अल्पसंख्यक सैनिकों को एक साथ जुटाकर और बहुतों को यथेच्छ युद्ध में प्रवृत्त करे।

युद्धक्रममाह[1]।

(मनु ने) युद्ध का क्रम बताया है—

स्यन्दनाश्वैस्समे युद्धयेदनूपे[2] नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥

समतल भूमि में, रथ और घोड़ों पर तथा जलमय प्रदेश में नाव और हाथी पर सवार होकर, वृक्ष तथा बिना तने के पौधों से आच्छादित स्थान में धनुष-बाण से और स्थल भाग में ढाल, तलवार तथा बर्छों से युद्ध करे।

घोटकानाह[3]।

घोड़ों के सम्बन्ध में कहा है—

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पाञ्चालाञ्छूरसेनजान्[4]।
दीर्घाँल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योधयेत्[5]॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश (जयपुर के आसपास के भूभाग), पंचाल (यमुना और गंगा के मध्यवर्ती एक प्रसिद्ध भूखंड) और शूरसेन (मथुरा) में उत्पन्न हुए सैनिकों को, चाहे वे लंबे हों या नाटे, सेना में सबसे आगे (रखकर) युद्ध करावे॥ [इस श्लोक के ऊपर 'घोटकानाह' कहा गया है। अतएव यह श्लोक घोड़ों के सम्बन्ध में होना चाहिए था; किन्तु यह है मनुष्यों के सम्बन्ध में। इसलिए 'घोटकानाह' के बदले 'योधानाह' पाठ उचित प्रतीत होता है। दे० टिप्पणी ३]

---

१ म० ।७।१९२। (ङ) पुस्तके अ। २ अनये शुद्धः पाठः।

३ म० ।६।१९३॥ 'योधानाह' इति (घ) (ङ), कुल्लूकटीकायाञ्च। पाठः।

४ सूरसेन० इति (क) (ख) (ग)। ५ म०। योजयेत्।

'कुरुक्षेत्राद्युपलक्षणमन्यानपी'ति श्रीकरः

कुरुक्षेत्र आदि उपलक्षण हैं, अतएव अन्य देशों (में उत्पन्न हुए सैनिकों) का भी ग्रहण हो जाता है, ऐसा आचार्य श्रीकर कहते हैं।

भारते[1]।

महाभारत में कहा है—

अथो[2] पयायाच्छकटं वज्रं पद्मश्च पार्थिवः।
उशना वेद यच्छास्त्रं तत्रैतद्विदितं[3] विभो॥
वारयित्वा[4] परबलं कृत्वा स्वबलदर्शनम्।
स्वभूमौ योजयेद्युद्धं परभूमौ तथैव च॥
बलं प्रसादयेद्राजा निक्षिपेद्बलिनो बलान्[5]।
कृत्वा[6] स्वविषयं तत्र[7] सामादिभिरुपक्रमेत्॥
सर्वथैव महाराज शरीरं धारयेदिह॥

इसके बाद राजा सेना का शकटव्यूह, वज्रव्यूह और पद्मव्यूह बनाकर आक्रमण करे। प्रभो! शुक्राचार्य जिस शास्त्र को जानते हैं, उसमें ऐसा ही माना गया है। शत्रु-सेना का निवारण करके और अपनी सेना का निरीक्षण करके अपनी भूमि पर या शत्रु की भूमि पर युद्ध आरंभ करे। राजा को चाहिए कि वह पारितोषिक आदि के द्वारा सेना को सन्तुष्ट रखे और उसमें बलवान सैनिकों की भर्ती करे। वहाँ अपना आश्रय-स्थान बनाकर साम आदि उपायों के द्वारा (शत्रु के) निकट जाय। महाराज! इस जगत् में सब प्रकार से शरीर की रक्षा करना चाहिए।

मनुः[8]।

मनु ने कहा है—

प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत्।
चेष्टांश्चैव[9] विजानीयादरीन्योधयतामपि॥

---

१ म० भा०। आश्रम०।८।१५-१८।

२ म० भा०। 'अथोपपत्त्या'......'भारत'।

३ म० भा०। विहितमिति। ४ म० भा० चारयित्वा इति।

५ म० भा०। नरान्। ६ म० भा०। ज्ञात्वा।

७ मासादिभिः (घ) (ङ) ८ म० ।७।१९४।

९ म० चेष्टाश्चैव (घ)। 'चेष्टाश्चाव०' (ङ) पुस्तके अशुद्धः पाठः।

सैन्य व्यूह की रचना करके राजा सैनिकों के उत्साह को बढ़ावे और उनकी भली भाँति परीक्षा करे। जब वे शत्रु से लड़ते हों तब भी उनकी चेष्टाओं का निरीक्षण करता रहे।

प्रहर्षयेत्—जये तु[1] यशोभूम्यादिलाभः, संग्राममरणे तु यशोदिव्यस्वर्गलाभोत्तमसुखानि, पलायनेऽर्थहानिः[2] अकीर्तिः नरकदुःखानि रणादपक्रान्तस्यापि काले मरणमवश्यमेवेत्यादि सप्रमाणवाक्यैः। 'भेर्यादिभिरपी'ति पल्लवः। बलमत्र सैन्यादि[3] परं 'बलमत्र षड्विधमित्रादेरपि हर्षेण जयसंपत्ते'रिति लक्ष्मीधरः। इष्टतया किमनिष्टतया इच्छया किमनिच्छया[4] युध्यत इति ज्ञापकेङ्गितादिरूपा चेष्टा।

विजय मिलने पर (तुम्हें पारितोषिक रूप में) यश, भूमि आदि का लाभ होगा, युद्ध में मृत्यु होने पर यश, दिव्य स्वर्ग का लाभ और उत्तम सुख मिलेंगे, (युद्ध से) भाग जाने पर धन की हानि, अपयश तथा नरक के दुःख मिलेंगे और युद्ध से भाग जाने पर भी समय पर मृत्यु तो अवश्य ही होगी—इत्यादि सप्रमाण वचनों से युद्ध में सैनिकों को प्रोत्साहन देना चाहिए। 'नगाड़े आदि के शब्दों से भी प्रोत्साहन देना चाहिए' यह पल्लवकार ने कहा है। यहाँ बल का अर्थ है सैन्य आदि; क्योंकि लक्ष्मीधर ने कहा है कि यहाँ बल छहों प्रकार का समझना चाहिए, जिसलिए कि हाथी आदि के भी प्रसन्न रहने से जय-सम्पत्ति मिलती है। कर्तव्य या अकर्तव्य समझकर इच्छा या अनिच्छा से सैनिक युद्ध कर रहा है—इसको बताने वाला सैनिक का हाव-भाव यहाँ चेष्टा का अर्थ है।

[5]उपरुद्ध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥

---

१ (घ)। 'तु' नास्ति।

२ (घ) (ङ) योः। अर्थहान्यकीर्तिनरकदुःखानि इति सम्यक् पाठः।

३ (ख) (ग) (घ) पुस्तकेषु सेनान्यादिपरमिति।

४ किमनिच्छयेति पाठः प्रमादात् (ङ) पुस्तके त्रुटितः।

५ म० ।७।१९५–७।

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारं[1] परिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥
उपजप्यानुजपेद् बुद्धयेच्चैव[2] च तत्कृतम् ।
[3]युक्ते च दैवे युद्धयेत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥

शत्रु को चारों ओर से घेरकर उसके राज्य को हर तरह से पीड़ा पहुँचावे। वहाँ के घास, अन्न, जल और ईंधन को निरन्तर नष्ट-भ्रष्ट करता रहे। उसके जलाशयों को नष्ट कर दे, दुर्ग के परकोटे को तोड़ डाले, खाइयों को (मिट्टी, पत्थर से) भर दे, (सभी तरह से) उसकी शक्ति को क्षीण कर दे और रात को भी (नगाड़े आदि बजाकर) उसे आतंकित करे। शत्रु-पक्ष के भेदियों को फोड़ ले और उनके द्वारा शत्रु के कार्यों का पता लगावे। विजय की इच्छा करने वाला राजा भयरहित होकर शुभ मुहूर्त में युद्ध आरंभ करे।

उपजपेत् भेदयेत् ।

उपजपेत्=फोड़ ले।

विजयोत्तरकृत्यमाह स एव[4] ।

विजय के बाद का कार्य मनु ने ही बताया है—

जित्वा संपूजयेद् देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥
सर्वेषान्तु विदित्वैषां समासेन[5] चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥

युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के बाद राजा को देवताओं और धार्मिक ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिए। उन्हें दान-दक्षिणा देनी चाहिए और (विजित राज्य की प्रजा में सर्वत्र) अभय की स्थापना करनी चाहिए। (जीते हुए राज्य के मंत्री आदि) सब लोगों के मन का संक्षेप में अभिप्राय जानकर उस राज्य की राजगद्दी पर उसी राजा

---

१ म० । प्राकारपरिखास्तथा ॥ (घ) (ङ) योः । प्रकारमित्यपपाठः ।

२ युद्धयेदिति (क) (ख) (ग) (घ) म० बुध्येतैव ।

४ 'मुक्तेऽपि' इति (ङ) पुस्तकपाठः प्रामादिकः । म० । दैवे ।

४ म० ।७।२-१-२ ॥ (घ) (ङ) योः स एवेति पाठो नास्ति ।

५ समानेनेति (ङ) पुस्तकपाठः प्रामादिकः ।

के किसी वंशज को बिठा दे और उसीको समयानुसार राज-काज करने का अधिकार सौंप दे।

सर्वेषामरिमन्त्रिणां चिकीर्षितमभिप्रायं, तद्वंश्यं निहतशत्रुवंश्यं स्थापयेद्राज्येऽभिषेचयेत्, समयक्रियामिदं त्वया कर्तव्यमिति व्यवस्थाम्। विष्णुः।

'अरावाप्तौ[1] तद्वंश्य[2]मभिषिञ्चेत्[3]'॥

सर्वेषाम्=शत्रु के मन्त्रियों का। चिकीर्षितम्=अभिप्राय। तद्वंश्यम्=मारे गये शत्रु के वंशज को। स्थापयेत्=राज्य पर अभिषिक्त करे। समयक्रियाम्=यह तुम्हें करना है, इस प्रकार की व्यवस्था। विष्णु ने कहा है—

शत्रु-नगरी को हस्तगत कर लेने पर (वहाँ) उसके (किसी) वंशज को अभिषिक्त कर दे। [यह अर्थ 'पुरावाप्तौ' पाठ मानकर किया गया है। 'अरावाप्तौ' पाठ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है।]

अत्र बलायुधादिशिक्षादि[4] विस्तरभयान्नोक्तम्।

यहाँ सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र आदि के शिक्षण आदि का निरूपण विस्तार के भय से नहीं किया।

इति चण्डेश्वरकृतोऽत्र बलतरङ्गः॥

श्री चण्डेश्वर द्वारा रचित बल-निरूपण नामक तरंग समाप्त।

---

१ पुरावाप्तौ (घ) (ङ) योः। २ तदवश्यमिति (ङ) पाठः प्रामादिकः।
३ विष्णुस्मृतौ तु (३।४७) 'राजा परपुरावाप्तौ तु तत्र तत्कुलीनमभिषिञ्चेत्॥'
४ (ग)। बलायुधादि विस्तर०। इति।

दशमस्तरङ्गः

अथ सेनानी ॥

सेनापति का निरूपण किया जाता है—

मनुः[1] ।

मनु ने कहा है—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥

सेनापति की अधीनता में दंड (हस्ती, अश्व, रथ और पदाति सेनाएँ) होता है, विनय रूप क्रिया दंड के अधीन होती है, कोश तथा राष्ट्र राजा के अधीन होते हैं और संधि तथा विग्रह राजदूत के अधीन होते हैं।

अमात्यः सेनानी, दण्डो हस्त्यश्वरथपदातादिः[2] ।

अमात्य = सेनापति । दण्ड = हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि ।

भारते ।

महाभारत में कहा है—

सेनाप्रणेता च भवेत्तावता तु दृढव्रत[3] ।
शूरः क्लेशसहश्चैव हितो भक्तश्च पूरुषः ॥

हे दृढ प्रतिज्ञा वाले ! सेनापति को शूर-वीर, क्लेश सह सकने वाला, हितैषी, स्वामिभक्त और पुरुषार्थी होना चाहिए ।

राजनीतौ[4] ।

राजनीति नामक ग्रन्थ में कहा है—

पितृपैतामहो[5] **वंश्यस्संहतो दत्तवेतनः ।**

---

१ म० ।७।६५।

२ नैषोऽर्थः समीचीनः । 'अमात्ये मन्त्रिणि दण्ड आयत्तः अधीन' इति रामचन्द्रः । 'अमात्यः सर्वकार्यनिर्वाहक' इति नन्दनः । दण्डः शासनम् , यथा दण्डनीतिपदे । पदात्यादिरिति युक्तम् ॥ (घ) (ङ) योः । पादातादिः । कु० ।

३ म० भा० । आश्रम० ।६।४३। 'तव तात दृढव्रतः' इति भारते ।

४ कामन्दकः ।४।६३-६५।   ५ का० । वश्यः । इति ।

प्रख्यातपौरुषो[1] जन्यः कुशलः कुशलैर्वृतः ॥
नानाप्रहरणोपेतो नानायुद्धविशारदः ।
नानायोध[2] समाकीर्णो नीराजितहयद्विपः ॥
[3]प्रवासायासदुःखेषु युद्धेषु च कृतश्रमः ।
अद्वैधः[4] क्षत्रियप्रायो दण्डो दण्डविदां मतः ॥

पिता-पितामह से सम्बन्धित, कुलीन या सम्बन्धी, प्रिय, वेतन पाने वाला, पुरुषार्थ के कार्य में प्रसिद्ध, लोकप्रिय, दक्ष, कुशल जनों से युक्त, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युक्त, नाना प्रकार के युद्ध करने में निपुण, अनेक योद्धाओं से व्याप्त, हाथी-घोड़ों पर चढ़कर हथियार चलाने वाला, परदेश-निवास, कठिन कार्य, दुःख तथा युद्ध में श्रम किये हुआ, संकल्प-विकल्प से रहित और प्रायः क्षत्रिय जाति का सेनापति सैन्य-शास्त्र के ज्ञाताओं को पसन्द आता है।

पितुरयं[5] पितामहस्यायमिति पितृपैतामहो, वंश्यः सम्बन्धी, संहतोऽपेक्षितः, दण्डोऽत्र[6] सेनापतिर्विवक्षितः प्रागुक्तावुक्तविशेषणासंभवात् न च पदातौ सम्भवो नीराजितहयद्विपत्वाभावात् ।

पितृपैतामहः = पिता-पितामह से सम्बन्धित (अर्थात् जो राजा के पिता-पितामह के समय में सेनापति के पद पर रहा हो)। वंश्यः = सम्बन्धी (रिश्तेदार)। संहतः = अपेक्षित (मित्र)। यहाँ 'दण्ड' का अर्थ सेनापति है। यदि पूर्वोक्त हस्ती, अश्व, रथ, पदाति दण्ड का अर्थ लेंगे तो 'पितृपैतामह' आदि विशेषण उसमें लागू नहीं होंगे। यदि कहें कि पैदल में उक्त विशेषण लागू हो जायँगे तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि पैदल हाथी-घोड़े पर चढ़कर हथियार नहीं चलाते हैं।

[7]नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप[8] ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद् व्यूहीकृतैर्बलैः ॥

---

१ का० । विख्या० । इति ।
२ का० । व्यौध० । इति ।
३ (ख) । 'पुरा व्यायामदुःखेषु' । पुरायासदुःखेषु । (ङ) ।
४ अ० का० । 'अद्वैध्यः' ॥ मै० का० । 'अद्वैधः' । आयुधः । (ङ) ।
५ (क) (ग) । पैतामहस्य० ।
६ दण्डोऽत्र सेनायाम् । ७ का० ।१९।४४।४६।४७।
८ का० । भवेत् । सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद्० । इति ।

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वतो नागा नागानाञ्च पदातयः[1] ॥
पश्चात्सेनापतिर्यायात् सेनामाश्वासयञ्छनैः ।

हे राजन् ! नदी, पहाड़, वन तथा किले में जहाँ-जहाँ भय उपस्थित हो, वहाँ-वहाँ सेनापति सेना का व्यूह बनाकर जाय। सेना के दोनों बगल घोड़े रहें, घोड़ों के बगल में रथ रहें, रथों के बगल में हाथी रहें और हाथियों के बगल में पैदल रहें। पीछे से सेनापति सेना को ढाढस बँधाता हुआ धीरे-धीरे प्रयाण करे।

मनुः[2] ।

मनु ने कहा है—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥
न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि[3] दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥
न युद्धव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरीक्षितम्[5] ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।

---

१ का० । 'नागानाञ्चाटवीबलम् । पश्चात्सेनापतिस्सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयं, यायातसन्नद्धसैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।'

२ म० ।७।८९-९५ ।

३ नासिदिग्धैर्नापि ज्वालन्ततेजनैः (ङ) ।

४ नायुधव्यसन० । इति मानवपाठान्तरम् ।

५ म० । नातिपरिक्षतम् । इति ।

भर्ता[1]च तत्समादत्ते पराघृत्तहतस्य तु ॥

युद्ध में परस्पर एक दूसरे को मारने की इच्छा करनेवाले, सम्पूर्ण शक्ति लगाकर लड़नेवाले और युद्ध में पीठ न दिखानेवाले राजा (मरणोपरान्त) स्वर्ग को जाते हैं। रणस्थल में युद्ध करते हुए, शत्रुओं को कूट शस्त्रों, कर्णिका के आकार-सदृश फलकवाले, विष से बुझे हुए और अग्निदीप्त बाणों से न मारना चाहिए। स्वयं रथारूढ़ होकर भूमि-स्थित शत्रु को न मारना चाहिए। इसी प्रकार जो नपुंसक हो, जो हाथ जोड़े खड़ा हो, जिसके बाल खुले हों, जो बैठा हो और जो 'मैं आपका हूँ' कहता हो—ऐसे शत्रुओं को न मारना चाहिए। जो सोया हुआ हो, जो कवच से रहित हो, जो नग्न हो, जो निःशस्त्र हो, जो लड़ना न चाहता हो, जो दर्शक हो और जो दूसरे के साथ युद्ध में उलझा हुआ हो—ऐसे शत्रुओं को न मारना चाहिए। जिसके शस्त्रास्त्र टूट गये हों, जो शोकाकुल हो, जो बहुत घायल हो गया हो, जो भयभीत हो, जो युद्ध से भाग पड़ा हो, ऐसे शत्रुओं को सज्जनों का धर्म स्मरण करके नहीं मारना चाहिए। युद्ध-क्षेत्र से डरकर भागा हुआ जो सैनिक शत्रु से मारा जाता है, वह अपने स्वामी के समस्त पापों का बोझ अपने सिर पर लेता है और उसके परलोक के लिए संचित सभी पुण्य उसके स्वामी को प्राप्त होते हैं।

अत्र महीक्षित उपलक्षणम्। [2]सेनान्यादीनामप्येष एव धर्मः। [3]'एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो [4]योधधर्मस्सनातन' इत्युपसंहारात्। इदमदृष्टार्थं प्रसङ्गादुक्तम् ॥

यहाँ 'महीक्षितः' (राजा) शब्द उपलक्षण है। सेनापति आदि का भी यही धर्म है। क्योंकि इस प्रसंग के अन्त में कहा गया है—'यह योद्धाओं का अनिन्दित सनातन धर्म बताया है'। यह अदृष्ट अर्थ प्रसंगवश कहा।

इति चण्डेश्वरकृतस्सेनानीतरङ्गः ॥

श्री चण्डेश्वर द्वारा रचित सेनापति-निरूपण नामक तरंग समाप्त।

---

१ म० । तत्सर्वमादत्ते । २ सैन्यादीनां (ङ) ।
३ म० ।७।९८। ४ यो हि धर्मः । (ङ) ।

एकादशस्तरङ्गः

अथ दूतादिः

राजदूत आदि का निरूपण किया जाता है—

मनुः[1]—

मनु ने कहा है—

दूतञ्चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते[2] ॥
दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते[3] येन मानवाः[4] ॥
स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां[5] भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥
[6]लब्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥

जो समस्त शास्त्रों में निपुण, इंगित (संकेत), आकार (मुख-नेत्र के भाव) और चेष्टा से मन का भाव समझने वाला, पवित्रचरित्र, चतुर और कुलीन हो, उसे राजदूत बनाना चाहिए। ऐसे राजदूत को उत्तम माना जाता है, जो लोगों पर प्रेम करनेवाला, सच्चरित्र, चतुर, मेधावी; देश-काल का ज्ञाता, रूपवान्, निर्भीक और सुवक्ता हो। दूत ही बिगड़े हुओं को मिलाता है और मिले हुओं को फाड़ता है। दूत ऐसा काम कर देता है, जिससे (शत्रु-पक्ष का) जन-बल छिन्न-भिन्न हो जाता है। दूत को चाहिए कि वह शत्रु राजा के कार्यकर्ताओं के इंगित तथा

---

१ म० ।७।६३-६८। २ एतदग्रे (घ) (ङ) योः 'अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया। नृपतौ कोषराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ' ॥ इत्यधिकः पाठः ॥ ३ (ङ) भिन्दन्ते इति। ४ (क) (ग) योः। वा नराः। ५ म०। चेष्टामिति। ६ म०। बुध्वा।

चेष्टा से उसके आकार, इंगित तथा चेष्टा जाने और सेवकों के प्रति शत्रु राजा का कैसा भाव है, यह भी जान ले। प्रतिपक्षी राजा के अभिलषित कार्यों का भलीभाँति पता लगाकर ऐसा यत्न करे, जिससे अपने ऊपर कोई संकट न आये ॥

दूतद्वारेण लब्ध्वा राजेति शेषः । दूतस्यावध्यत्वमाह—

नीतौ शुक्रः ।

[ऊपर के श्लोक में] 'लब्ध्वा' के साथ 'दूतद्वारेण राजा' (अर्थात् राजा दूत के द्वारा पता लगाकर) इतना जोड़ देना चाहिए। दूत अवध्य होता है, यह बात शुक्राचार्य ने अपने नीति-ग्रन्थ में कहा है—

दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥

दूत यदि म्लेच्छ भी हो तो उसे नहीं मारना चाहिए; क्योंकि दूत राजा के मुख के समान होता है। (दूत को मारने के लिए) शस्त्रों के उठा लेने पर भी दूत अन्यथा (अर्थात् जो उसे कहने के लिए कहा गया है, उसके विपरीत) नहीं बोलता ॥

तथा[1]—

उसी तरह (यह भी कहा है—)

स्वापकर्षं परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते च कः ।
[2]सदैवावध्यभावेन दूतस्सर्वं हि जल्पति ॥

दूत की बातों से अपनी हेठी और शत्रु की श्रेष्ठता कौन मानता है ? (अर्थात् किसी को भी ऐसा नहीं मानना चाहिए); क्योंकि दूत सदा ही 'मैं मारने योग्य नहीं हूँ' इस भाव से सब कुछ बोलता है ॥

प्रतीहारकार्यमाह—

द्वारपाल का कार्य बताया है—

[3]विश्वस्तांस्तान्विचिन्वीरन् [4]द्वास्थाः [5]पक्षान्तरं गतान् ।

---

१ (घ) (ङ) योः । 'तथा' इति नास्ति । २ सदैवावध्यभावेनेति (ङ) पुस्तकपाठः सम्यक् ॥ 'सदैवारा०' इत्यन्येष्वपपाठः । ३ का० ।६।१२। ४ इति मै० का० पुस्तकेऽपि । अ० का० । 'विश्वस्ता विचिन्वीयुः' । ५ का० । 'कक्ष्यान्तरागतान्' । (ख) (ग) (घ) (ङ) । 'पक्षान्तरं गतान्' इति पाठः ।

ते शस्त्रग्राहका[1] ब्रूयुः प्रयुक्ताः स्म इति स्फुटम् ॥

द्वारपाल (अपने पक्ष के) उन विश्वस्त व्यक्तियों को ढूँढ़ें, जो दूसरे पक्ष में गये हुए हैं और शस्त्र धारण करनेवाले वे (द्वारपाल) उन (विश्वस्तों) से स्पष्ट कहें कि हम (आपको राजा के समीप पहुँचाने के लिए) नियुक्त हुए हैं ॥

विश्वस्तान् यद्गमनेन न स्वामिभयार्दितान् (०भयार्तिस्तान् ?) पक्षान्तरगतान् प्रत्यर्थिपक्षोपगतान्, विचिन्वीरन् एकमन्तर्गमयेयुरेकं द्वारेऽवरुन्धन्ति ते चास्मिन्नर्थे वयं नियुक्ता इति ब्रूयुः समागतसज्जनमानायेत्यभिप्रायः[2]।

विश्वस्तान् = उन व्यक्तियों को, जिनके जाने से स्वामी को भय तथा पीड़ा न हो। पक्षान्तरगतान् = शत्रु के पक्ष में गये हुओं को। विचिन्वीरन् = अर्थात् (विश्वस्तों में से) एक को भीतर पहुँचावें और दूसरे को (तबतक) द्वार पर रोके रहें। वे द्वारपाल आये हुए सज्जनों का मान रखने के लिए यह कह दें कि (क्षमा करें) इसी कार्य के लिए हम नियुक्त हैं।

मित्रमाह मनुः[3]—

मनु ने मित्र के सम्बन्ध में कहा है—

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो[4] न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥
धर्मज्ञञ्च कृतज्ञञ्च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥

सुवर्ण और भूमि पाकर राजा वैसी उन्नति नहीं कर सकता, जैसी कि उस स्थायी मित्र को प्राप्त करके करता है, जो वर्तमान में दुर्बल होते हुए भी भविष्य में बढ़ने वाला हो। धार्मिक, कृतज्ञ, सन्तोषी

---

१ ग्राहका इति मै० का०। ० ग्राहिण इति अ० का०। २ (क)।० गमनाय। (घ) मानाय। ३ म० ।७।२०८-९। ४ पार्थिवेन यथैधते। (घ)। पार्थिवेन यथेजते। (ङ)। ५ भृश० इति (क) (ख) (ग) (घ) पुस्तकेषु।

स्वभाव वाला, प्रेमी और दृढता से कार्य आरंभ करने वाला मित्र छोटा भी हो तो वह उत्तम है ॥

नीतौ—

नीति-ग्रन्थ में कहा है—

य एनमुत्पथगतं वारयन्ति निवारिताः[1] ।
मज्जमान[2]मकार्येषु सुहृदो वारयन्ति हि ॥
[3]सत्यं न ते हि सुहृदो गुरवो गुरवो हि ते ।
[4]पश्यन्नपि भवत्यन्धो यस्माद्रागावृतः पुमान्[5] ॥

सुहृद्वैद्याश्चिकित्सन्ति निर्मलैर्विनयाञ्जनैः ।
कृतविद्योऽपि बलिना रक्तो[6] रागेण रज्यते ॥
रागोपरक्तचित्तस्सन्न किं कुर्यादसाम्प्रतम् ।
रागमानमदान्धस्य स्खलतः पृथिवीपतेः ॥
हस्तावलम्बो भवति सुहृत्सचिवचेष्टितम् ।

कुमार्ग पर चलते हुए तथा अकार्य करने में डूबे हुए राजा को (उसके) मित्र बचाते हैं। सचमुच, (कुमार्ग से बचाने वाले) मित्र मित्र ही नहीं है, बल्कि वे महान् गुरु हैं। क्योंकि राग से ढक जाने पर मनुष्य देखता हुआ भी अंधा हो जाता है। (ऐसी स्थिति में मित्र रूपी वैद्य विनय रूपी निर्मल अंजनों से (उसकी) चिकित्सा करते हैं। विद्वान् व्यक्ति भी बलवान् राग में रंग जाता है। और जिसका चित्त राग में रंग गया है, वह भला कौन-सा अनुचित काम नहीं कर सकता है? राग, मान और गर्व से अंध होकर गिरते हुए राजा के लिए हाथ का सहारा मित्र और मंत्री द्वारा किया गया उपाय ही होता है ॥

याज्ञवल्क्यः[6]—

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

---

१ कामन्दकः ४।४२।-६। वारयन्त्यनिवारिताः। का०। २ का०। सज्ज-मान०। ३ इति मै० का० पाठोऽपि। अ० का० पाठः (४३, ४५) व्यत्यस्तः। ४ का०। 'वृतेक्षणः'। ५ का०। 'व्यक्तम्'। ६ या०।१।३५२।

हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरायते[1]।
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितम्[2] ॥

सोना और भूमि प्राप्त करने की अपेक्षा मित्र प्राप्त करना श्रेष्ठ है। इसलिए मित्र प्राप्त करने के लिए यत्न करना चाहिए और सावधानी से सत्य की रक्षा करनी चाहिए ॥

नन्वनयगामिनृपवारणे प्राणसन्देहस्तदा कथं निवारित इति सत्यमेतत् परन्तु श्रुतिस्मृत्यादौ नित्यत्वाद्धर्मस्यैव निरुपेक्षितत्वात्[3] लोकेऽपि वाच्यत्वप्रसन्नत्वाच्च। तदाह—

यदि आशंका करें कि अनीति पर चलने वाले राजा को रोकने में (अपने प्राण जाने का भय उपस्थित होता है अतएव उसे कैसे रोका जाय तो यह कहना ठीक है, किन्तु श्रुति, स्मृति आदि में धर्म को नित्य कहा गया है; (ऐसा न करने से) उसी की उपेक्षा होती है और लोक में निन्दा-भाजन भी बनना पड़ता है (कि ऐसे कुपथगामी राजा को उसके मित्रों और मंत्रियों ने भी नहीं रोका, अतएव वे भी वैसे ही हैं)। जैसा कि कहा है—

मदोन्मत्तस्य[4] नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः।
गच्छन्त्यन्यायवृत्तस्य नेतारः[5] खलु वाच्यताम् ॥

मतवाले हाथी की तरह गर्व से उन्मत्त तथा अन्यायपूर्ण आचरण करनेवाले राजा के अगुए लोग निन्दा को प्राप्त करते हैं ॥

मित्रपरीक्षा—

मित्र की परीक्षा (अर्थात् मित्र कैसा होना चाहिए उसका लक्षण)

[6]त्यागविज्ञानमन्त्राढ्यं [7]महापक्षं प्रियंवदम्।
आयतिक्षममद्वेष्यं मित्रं कुर्वीत सत्कुलम् ॥

त्याग, शिल्प, शास्त्र आदि के ज्ञान और मन्त्रणा शक्ति से सम्पन्न,

---

१ या०। 'वरा यतः'। २ या०समाहितः। ३ (क)। 'निरपेक्षित्वात्'। ४ का० ।४।४७। मदोद्धतस्येति। ५ नेतरः (घ) (ङ) योरशुद्धः पाठः। ६ का० ।४।६६। योगविज्ञान इति मै० का०। ७ का०। 'सत्वाढ्यम्'। मन्त्राद्यं (ङ)।

दृढता से पक्ष लेने वाले, प्रिय बोलने वाले, भविष्य में बढ़ने वाले, द्वेष न करने योग्य और अच्छे कुल में उत्पन्न व्यक्ति को मित्र बनाना चाहिए।

सत्कुलं कुलीनं तत एव मैत्री निर्वहतीति युक्तिः।

सत्कुल=कुलीन (उत्तम कुल में उत्पन्न)। उसी के साथ मैत्री का निर्वाह हो सकता है, यह कहना उचित है।

दूरादेवाभिगमनं स्पष्टार्थहृदयानुगा।
वाक् सत्कृत्य प्रदानञ्च त्रिविधो मित्रसंग्रहः॥

दूर से ही अगवानी करना, स्पष्ट अभिप्राय वाले हृदय का अनुगमन करने वाली वाणी बोलना और सत्कार करके कोई वस्तु देना— ये तीन मित्र-संग्रह करने के उपाय हैं॥

अभिगमनमभ्युत्थानं स्पष्टार्थहृदयानुगा अच्छन्नमधुरा[2] वाणी, सत्कृत्यदानमिष्टकरणमिति त्रिविधो मैत्रीरक्षणो[3]पायः।

अभिगमन=अगवानी के लिए जाना। स्पष्टार्थहृदयानुगा=कपट से रहित और मधुर वाणी। सत्कृत्य दानम्=अनुकूल या प्रिय कार्य करना। मित्रता रखने के ये तीन उपाय हैं।

[4]धर्मार्थकामसंयोगो मित्राच्च त्रिविधं फलम्।
यस्मिन्[5] एतत्त्रयन्नास्ति तन्न सेवेत पण्डितः॥
औरसं [5]कृतसम्बन्धं तथा [5]वंशक्रमागतम्।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्॥

मित्र से तीन प्रकार का फल मिलता है—धर्म, अर्थ और काम का संयोग। जिस (मित्र) से ये तीनों न मिलें, उसका सेवन विद्वान् को नहीं करना चाहिए। मित्र चार प्रकार के होते हैं—(१) औरस, (जन्म से सम्बन्धित), (२) जिसके साथ सम्बन्ध किया गया हो (रिश्तेदार), (३) जो वंश-परम्परा से आ रहा हो (खानदानी मित्र) और (४) विपत्तियों से बचाया हुआ।

---

१ का० ।४।६९। २ मधुरानुरागिणी। (ङ)। ३ मैत्रीकरणोपायः। (ङ)। ४ का० ।४।७०–७१। ५ इति मै० का०पाठोऽपि। अ० का० 'यस्मात्' मैत्रसम्बद्धं। देश०।

औरसमत्र जन्मना सम्बन्धि, कृतसम्बन्धं पाणिग्रहणादिना[1] सम्बन्धि, वंशक्रमागतं पित्रादिमित्रं, व्यसनेभ्यः रक्षितं चतुर्विधमिदं मित्रमिति। न चौरसपदेन पुत्रो,[2] मातापितृभ्रातृबान्धवादीनां[3] तथात्वात्।

औरसम् = जो जन्म से सम्बन्धी हो (पुत्र, माता, पिता आदि)। कृतसम्बन्धम् = विवाह आदि के द्वारा जो सम्बन्धी हो (पत्नी आदि)। वंश-क्रमागतम् (वंश-परम्परा से आया हुआ) पिता आदि का मित्र। चौथा मित्र वह है, जिसे संकटों से बचाया गया हो। यहाँ औरस शब्द का अर्थ (केवल) पुत्र ही नहीं है, अपितु माता, पिता, भाई, बन्धु आदि सब हैं।

[4]शुचिता त्यागिता शौर्यं समानसुखदुःखता।
अनुरागश्च दाक्ष्यश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥

पवित्रता, त्याग, वीरता, सुखदुःख में साथ देना, अनुराग, दक्षता और सत्यता—ये मित्र के गुण हैं॥

यद्यपि सर्व एवैते मित्रगुणास्तथापि समावेशात्संक्षिप्याह—

यद्यपि ये सभी मित्र के गुण हैं तो भी समावेश के कारण (अर्थात् एक में इन सब गुणों का होना कठिन है, इसलिए) संक्षेप में कहा है—

[5]तदर्थेहानुरागश्च संक्षिप्तं मित्रलक्षणम्।
यस्मिन्नेतद्धि तन्मित्रं तत्रात्मानं विनिःक्षिपेत्[6]॥

मित्र के प्रति शुभकामना और अनुराग संक्षेप में मित्र का लक्षण है। जिस व्यक्ति में ये दोनों गुण हैं, वही मित्र है। उस पर अपने को न्योछावर कर देना चाहिए॥

तदर्थेहा तदिष्टस्पृहा। इदं सामान्यं, विशेषो मण्डलकथने (१२ त०) चाराः[6]। [7]मनुः—

---

१ पाणिग्रहादिना। (ङ)। २ पुत्राविति। (घ)। ३ मातृ० इति पठनीयम्। ४ का० ।४।७२।५ का० ।४।७३। ५ का०। 'यस्मिन्नैतन्न तन्मित्रं''न निक्षिपेत्'। ६ नास्ति। (घ) (ङ) योः। ७ म० ।७।१८४।

तदर्थेहा—मित्र का कल्याण चाहना। यह सामान्य लक्षण है। विशेष लक्षण मंडल-निरूपण के समय बताया जायगा। गुप्तचरों के बारे में मनु ने कहा है—

उपगृह्यास्पदञ्चैव चारान् सम्यग्विधाय च।

(शत्रु-राज्य में अपना) स्थान बनाकर और भेद लेने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त करके।

याज्ञवल्क्यः—

यज्ञावल्क्य ने कहा है—

[1]चारान् पश्येत्ततो दूतान् प्रेषयेन्मन्त्रिसङ्गतः।

गुप्तचरों का निरीक्षण करने के बाद मंत्री के साथ दूतों को भेजे।

[2]महाभारते—

महाभारत में कहा है—

चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये राज्ञामन्तरैषिणः।
तानाप्तैः[3] पुरुषैर्दूराद् घातयेथा नरर्षभ[4]॥
प्रकृतीनाञ्च राजेन्द्र चाराणां[5] च विभावयेत्।
क्रमेण युगपत्सर्वं[6] व्यवसायं महाबलम्॥

नरेश्वर! जो राजाओं के छिद्र देखा करते हैं, ऐसे शत्रुओं का गुप्तचरों द्वारा पता लगाकर विश्वसनीय पुरुषों द्वारा उन्हें दूर से ही मरवा डालना चाहिए। राजेन्द्र! राजा प्रजाओं का और गुप्तचरों का भी आदर करे। शत्रु की चेष्टा तथा बलाबल का पता लगाने के लिए एक साथ क्रमशः गुप्तचर तथा दूत को नियुक्त करे॥

बलाबलादिज्ञानार्थं प्रथमं चारान् पश्येत्ततो दूतानित्यर्थः।

---

१ या० ।१।३२७। पश्येच्चारांस्ततो दूतानिति या०। २ म० भा०। आश्रम० ।६।३६।७।१३। ३ म० भा०। ०आप्तैः। ४ इति। (घ)। म० भा०। नराधिप। ५ म० भा० राजदीनामिति [राजादीनानिति, वा (कु० म० भा०)] ६ बुद्ध्वा व्यसनानां बलाबलम्। म० भा०।

चारान् गूढान् गूढपुरुषान् दूतान् परस्परं[1] वृत्तसूचकान् ।

शत्रु के बल और कमजोरी आदि का पता लगाने के लिए पहले गुप्तचरों को पश्चात् दूतों को भेजे। चारान् = गुप्तचरों या गूढ पुरुषों को । दूतान् = एक दूसरे का सन्देश या समाचार बताने वालों को।

राजनीतौ[2]—

राजनीति ग्रन्थ में कहा है—

प्रख्यातवंश[3]मक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम्[4] ।
कुर्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिवारं महीपतिः ॥
[5]क्रूरोऽपि भाग्यतामेति परिवारगुणैर्नृपः ।

अपना हित चाहने वाला राजा ऐसे सेवक को नियुक्त करे, जो कुलीन हो, सौम्य हो, लोगों को सन्तुष्ट करने वाला हो और (आचरण का) पवित्र हो। राजा क्रूर होने पर भी सेवक के गुणों के प्रभाव से सौभाग्य को प्राप्त करता है ॥

प्रख्यातवंशं कुलीनं लोक[6]संग्राहिणं सापेक्षं परिवारं सेवकम् । सपरिवारकृत्यमाह[7]—

प्रख्यातवंशम् = कुलीन। लोकसङ्ग्राहिणम् = जिसकी अपेक्षा लोगों को बनी रहे ऐसे अर्थात् लोकप्रिय। परिवारम् = सेवक को। सेवक का कार्य बताया है—

वृत्तस्थं वृत्तसम्पन्नाः कल्पवृक्षोपमं नृपम् ।
उपगम्य[8] गुणैर्युक्तं सेवेरन्ननुजीविनः ॥
द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणान्वितः[9] ।

---

१ परस्परवृत्तसूचकान् । (घ) (ङ) योः । २ का० ।४।१०-११।
३ मै० का० । '०वर्त्म' । ४ शुचीन् । (घ) (ङ) योः । ५ मै० का० । 'क्रूरोऽपि सेव्यता०' । आ० का० । 'दुष्टोऽपि' (क्रूरोऽपि वा) भोग्यता० ।
६ लोकसापेक्ष्यं लोकसंग्राहिणम् । (ङ) । ७ का० ।५।१-२।४। ८ का० । 'अभिगम्य०' । ९ मै० का० । '० गुणैर्युतः' ।

भवत्याजीवनं तस्मात् श्लाघ्यं कालान्तरादपि ॥
अनात्मवान्नयद्वेषी वर्धयन्नरिसम्पदः ।
प्राप्यापि महदैश्वर्यं सह तेन विपद्यते[1] ॥

सदाचार-सम्पन्न सेवक सदाचारी, गुणशाली तथा कल्पवृक्ष के समान (कामनापूरक) राजा के पास जाकर सेवा करे। सेवनीय व्यक्ति के गुणों से युक्त राजा धन एवं प्रजा से रहित होने पर भी सेवा करने योग्य है। उससे कालान्तर में भी उत्तम जीविका मिलती है। जो राजा मूर्ख है और शत्रु की सम्पत्तियों को बढ़ाता हुआ नीति से द्वेष करता है, उससे बहुत धन मिलने पर भी उसका साथ करने से विपत्ति में फँसना पड़ता है।

अनात्मवानज्ञः नयद्वेषी नीतिनिन्दकः रिपुसंपद्वर्धको न सेव्य इत्याशयः।

अनात्मवान्=मूर्ख। नयद्वेषी=नीतिशास्त्र की निन्दा करने वाला। शत्रु की सम्पदा को बढ़ाने वाला (राजा) सेवनीय नहीं है, यह भाव है।

[2]तत्क्लिश्यन्नापकुर्वीत[3] न[4] लोकद्वेषमाचरेत्।

सेव्य (राजा) से क्लेश पाने पर भी उसका अपकार न करे और (अकारण) लोगों से द्वेष न करे।

स्वामितो दुःखितोऽपि स्वामिनो नापकारं कुर्यात् न परद्वेषमाचरेत् वृथेति शेषः।

स्वामी से कष्ट पाने पर भी स्वामी का अपकार नहीं करना चाहिए और व्यर्थ में दूसरों से द्वेष नहीं करना चाहिए।

[5]क्लिश्यन्नपि हि मेधावी शुद्धं जीवनमाचरेत्।
तेनेह श्लाघ्यतामेति लोकेभ्यस्तु न हीयते॥

---

१ का०। विनश्यति। इति पाठान्तरम्। २ का० ।५।६। ३ का०। 'तत् क्लिश्यन्नपि०' ॥ मै० का०। ० न्नपि मेधावी। ४ लोके (ङ)। का०। ० द्विष्ट०। ५ का० ।५।९।१२-१४। क्लिश्यन्नपीह (ङ)।

आरिराधयिषुस्सम्यगनुजीवी महीभुजम्[1] ।
विद्याविनयशिल्पाद्यैरात्मानमुपपादयेत् ॥
कुलविद्याश्रुतौदार्यशिल्पविक्रमधैर्यवान् ।
वपुस्सत्त्वबलारोग्यसत्य[2]शौचदयान्वितः ॥
पैशुन्यद्रोहसंभेदशाठ्यमौढ्या[3] नृतातिगः ।
[4]दम्भचापल्यहीनञ्च सेवनं कर्तुमर्हति ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति क्लेश में होने पर भी पवित्र जीवन बितावे । इससे उसकी प्रशंसा होती है और वह लोक-भ्रष्ट नहीं होता है । राजा की भली भाँति सेवा करने का इच्छुक सेवक अपने को विद्या, विनय और शिल्प आदि से भूषित करे । उत्तम कुल, विद्या, शास्त्र, उदारता, शिल्प, पराक्रम, धैर्य, सुन्दर शरीर, शक्ति, बल, आरोग्य, सत्य, पवित्रता तथा दया से युक्त और चुगली, द्रोह, फूट डालना, शठता, मूर्खता तथा असत्यता से रहित सेवक दंभ एवं चंचलता को छोड़कर राजा की सेवा करे ।

सम्भेदोऽत्र कलिकर्म ।

यहाँ 'संभेद' का अर्थ है झगड़ा लगाना ।

[5]दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिः क्लेशसहिष्णुता ।
सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयन्त्यनुजीविनम् ॥

निपुणता, शिष्टता, दृढता, क्षमा, क्लेश सहन करना, सन्तोष, शील और उत्साह (इतने गुण) सेवक को विभूषित कर देते हैं ॥

इत्यष्टौ प्रधानगुणाः ।

ये आठो (सेवक के) प्रधान गुण हैं ।

परस्थानासनं क्रौर्यमौद्धत्यं मत्सरं त्यजेत् ।
[6]विसृज्य कथनञ्चैव न कुर्याज्ज्यायया[7] सह ॥

---

१ महीभुजाम् । (ङ) । का० । महीपतिम् । २ का० स्थैर्यशौच० । ३ का० । लौल्य० । मौढ्यनृतातिगः । (ङ) । ४ का० । स्तम्भचापल० । (ङ) । ० हीनश्च । ५ का० ।५।१५। ६ का० ।५।१८। विगृह्य कथनं चापि । ७ का० । 'ज्यायसा' ।

सेवक को चाहिए कि वह दूसरे के स्थान पर बैठना, क्रूरता, उद्दण्डता तथा मत्सर (डाह) का त्याग कर दे, और राजा को विदा कर राज-पत्नी के साथ (एकान्त में) बातचीत न करे ॥

राजवेश्मनि एकान्ते कथनं स्त्रिया सह न कुर्यात् जायया राजजाययेति ।

राज-भवन में एकान्त में (किसी) स्त्री के साथ बातचीत न करे। जायया = राजा की पत्नी के साथ । 'राजा को विदा करके बातचीत न करे' यह पल्लवकार का मत है ।

[1]विप्रलम्भं च मायां च दम्भं स्तेयं च वर्जयेत् ।

सेवक छल, वंचना, दंभ और चोरी न करे ।

स्तेयं विवर्जयेत् । यद्यपि सर्वनिषेधस्तथापि राजवेश्मनि सन्निहितभयादत्र विशेषतो निषेध इत्याशयः ।

चोरी का परित्याग करे । यद्यपि चोरी करना सर्वत्र निषिद्ध है तो भी राज-गृह में समीपस्थ भय के कारण विशेष रूप से निषिद्ध है ।

[2]न नर्मसचिवैः सार्धं किञ्चिदप्यप्रियं वदेत् ।

तेऽस्य मर्माणि कृन्तन्ति[3] प्रहासेनैव संसदि ॥

सेवक राजा के हँसी-परिहास के मित्रों के साथ कुछ भी अप्रिय वचन न बोले । क्योंकि (ऐसा करने से) वे सभा में इस (सेवक) के कर्मों को मजाक में ही काट देते हैं ॥

नर्मसु सचिवैर्नर्मसचिवैः परिहासादिचतुरैः, कटुनादिभिरिति पल्लवः । प्रियाद्भिन्नमप्रियं साभिप्रायार्थवचनमिति यावत् मर्माण्याशयानि । तथा च तैः सभायां तद्वचनप्रहासेन तदुच्छेद इत्यर्थः ।

'नर्मसु सचिवैः नर्मसचिवैः' (इस विग्रह में यहाँ पाणिनि के 'सह सुपा २।१।४।' सूत्र से समास हुआ है) इसका अर्थ होता है—परिहास आदि करने में चतुर । पल्लवकार ने इसका अर्थ किया है—कटुभाषी ।

---

१ का० ।५।१९। (ङ) । दम्भस्तेयं । २ का० ।५।२०। ३ इति मै० का० पाठोऽपि । अ० का० । 'अभिघ्नन्ति' ।

अप्रिय = प्रिय से भिन्न। इसका भाव यह है कि कोई वचन अभिप्राय रखकर बोलना जो दूसरे को बुरा लगे। मर्माणि = आशयों को। भाव यह है कि नर्म-सचिव गोष्ठी में सेवक के वचन का उपहास करके उसकी जड़ काट देते हैं।

[1]भर्तुरर्धासने दृष्टिं मुहुर्नान्यत्र कारयेत्[2] ॥
न ब्रूयात्किञ्चिदन्योन्यं तिष्ठेदास्यं विलोकयन् ॥
कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात् सम्यगादेशयेति[3] च।
आज्ञां न वितथां कुर्याद्यथाशक्त्यविलम्बितः[4] ॥
उच्चैः प्रकथनं हास्यं[5] ष्ठीवनं कुत्सनं[6] तथा।
जृम्भणं गात्रभङ्गं च पर्वस्फोटं विवर्जयेत् ॥

सेवक स्वामी के सामने आधे आसन पर बैठकर बार-बार दूसरी जगह दृष्टि न डाले; परस्पर (दूसरे सेवक के साथ) कुछ भी न बोले; केवल राजा के चेहरे की ओर ताकते हुए रहे; जब राजा कहे कि यहाँ कौन है जी! तब सेवक बोले—'मैं हूँ, आज्ञा दें'। यथाशक्ति शीघ्र राजा की आज्ञा का पालन करे। राजा के सामने जोर से बोलना, हँसना, थूकना, गाली बकना, जम्हाई लेना, अंगेठी करना (देह फोड़ना) और उंगली चटकाना त्याग दे॥

अर्धासने पुरोभागार्धासने अन्योन्यं सेवकेन सह न ब्रूयात्। ष्ठीवनं मुखनिर्गतजलबिन्दुविशेषम्। जृम्भणं मुखव्यायक्रियाविशेषं, गात्रभङ्गं गात्रकौटिल्यक्रियाविशेषं पर्वस्फोटमङ्गुलीपर्वस्फोटनम्।

अर्धासने = सामने आधे आसन पर। अन्योन्यम् = अर्थात् अन्य सेवक के साथ न बोले। ष्ठीवनम् = मुख से निकला हुआ जलबिन्दु विशेष, थूक, जृम्भणम् = मुँह फैलाने की एक क्रिया, जम्हाई लेना। गात्रभङ्गम्—शरीर को टेढ़ा करने की एक क्रिया, अंगेठी करना। पर्वस्फोटम् = उंगली फोड़ना।

---

१ का० ।५।२१-२३। २ इति मै० का० पाठोऽपि। अ०। का०। अन्वासितः। निक्षिपेत्। ३ का०। 'आज्ञापयेति'। ४ इति मै० का० पाठोऽपि। अ० का०। 'अविलम्बितम्'। ५ का० हासं। ६ का०। कुत्सितं।

[1]समर्थयंश्च तत्पक्षं साधुभाषेत[2] भाषितम् ।

सेवक स्वामी के पक्ष का समर्थन करते हुए समीचीन भाषण करे ।

तत्पक्षं प्रभुपक्षम् ।

[3]विजानन्नपि न ब्रूयाद्भर्तुः क्षिप्तोत्तरं वचः ।
प्रवीणोऽपि हि मेधावी वर्जयेदभिमानिताम् ॥

जानता हुआ भी सेवक स्वामी के सामने ऐसी बात न बोले, जिसका उत्तर वह न चाहता हो । बुद्धिमान् सेवक पटु होने पर भी गर्व का त्याग करे ।

क्षिप्तोत्तरम् परित्यक्तोत्तरम् ।

क्षिप्तोत्तरम् = जिसका उत्तर छोड़ दिया गया हो ।

[4]यदप्युच्चैर्विजानीयान्नीचैस्तदपि कीर्तयेत् ।
[5]कर्मणा तस्य वैशिष्ट्यं कथयेद्विनयान्वितः ॥

सेवक जिस बात को जोर से कहना आवश्यक समझे उसको भी धीरे से कहे, और विनययुक्त होकर क्रिया के द्वारा उस (बात) की विशिष्टता बतावे ।

प्रबलतरमपि वचनं मृदु कीर्तयेत् कर्मणा सोपन्यासेन ।

जोरदार वचन को भी कोमलता के साथ कहे । कर्मणा = कार्य रूप में परिणत करके ।

[6]आपद्युन्मार्गगमने कार्यत्यागात्ययेषु[7] च ।
[8]तन्नियोगेन तु ब्रूयादर्थं सुपरिनिष्ठितम्[9] ॥

सेवक आपत्तिकाल में, कुमार्ग पर चलने पर, कर्तव्य का त्याग करने पर, विनाश या आक्रमण के समय राजा से आज्ञा लेकर खूब सोची-समझी हुई बात बोले ।

---

१ का० ।५।२४। २ (क) (ख) (ग) (ङ) पुस्तकेषु 'भाषित' । ३ का० ।५।२६। ४ का० ।५।२७। ५ कर्मणा तस्येत्यारभ्य मृदु कीर्तयेदित्यन्तः पाठो लेखकप्रमादात् (ङ) पुस्तके त्रुटितः । ६ का० ।५।२८। ७ का० । 'कार्यकालात्ययेषु' । ८ का० ।५।२५। एषः श्लोकानुक्रमः (अ० का० २६, २९, २८, २५) मै० कामन्दकीयेऽपि । व्यत्यासः अ० कामन्दकीये । ९ का० । सुपरिनिश्चितम् । इति पाठान्तरम् ।

अत्र तदभिप्रेतं ब्रूयात् । इदं तु कार्यसिद्धौ मज्जमानमकार्येष्वित्यादिवचनात् ।

यहाँ ऐसी बात बोले जो राजा को स्वीकार्य हो। यह वचन कार्य की सिद्धि के बारे में कहा गया है। इससे पहले 'अकार्यों में डूबते हुए राजा को मित्र उबारते हैं' यह कहा जा चुका है।

मुखप्रसन्नगोष्ठीषु [1]वादेषु वादिनां मतम् ।
[2]अपृष्टोऽपि हितान्वेषी ब्रूयात्कल्याणभाषितम् ॥
[3]गुह्यं कर्म च मन्त्रं च न भर्तुः संप्रकाशयेत् ।
विद्वेषं च विनाशं च [4]मनसापि न चिन्तयेत् ॥
स्त्रीभिस्तद्दर्शिभिः पापैर्वैरिभूतैर्निराकृतैः[5] ।
एकार्थचर्यां संवासं[6] संसर्गं च विवर्जयेत् ।
देशभावा[7]नुकरणं न कुर्यात् पृथिवीपतेः ॥
सम्पन्नोऽपि हि मेधावी स्पर्धेत न च तद्गुणैः ।
रागानुरागौ[8] जानीयाद् भर्तुः कुशलकर्मकृत् ॥
इङ्गिताकारतत्त्वाद्यै[9]रिङ्गिताकारतत्त्ववित् ।
दृष्ट्वा प्रसन्नो भवति वाक्यं गृह्णाति चादरात् ॥

प्रसन्नतापूर्वक चल रही वाद की गोष्ठी में राजा के बिना पूछे भी हितचिन्तक सेवक कल्याण की ऐसी बात कहे, जो (सभा में) बोलने वालों को प्रिय लगे। स्वामी के गोपनीय कार्य तथा विचार को कभी प्रकाशित न करे। उसके विनाश तथा शत्रुता करने की बात मन में भी न सोचे। (राज-परिवार की) महिलाओं, उन्हें बुरी दृष्टि से देखने वालों तथा निकाले जाने के कारण शत्रुभाव रखने वाले लोगों के साथ एक ही उद्देश्य से कार्य करना, साथ-साथ रहना या किसी प्रकार का संसर्ग करना छोड़ दे। राजा के देश-भाव (वेश-भूषा) का अनुकरण नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान् सेवक (सब गुणों से)

---

१ का० । सुखप्रबन्ध० । २ का० ।५।२८। ३ का० ।५।३१-३५।
४ इति मै० का० पाठोऽपि ॥ अ० का० । 'विद्विष्टमपि नाशं च'। ५ का० ।
० दूतैः । ६ का० एकार्थचर्यासङ्घातं ॥ ७ का० । वेशभाषा ० ।
८ का० । 'रागापरागौ' । ९ का० । 'इङ्गिताकारलिङ्गाभ्याम् ।

सम्पन्न होने पर भी राजा के गुणों से स्पर्धा न करे। हाव-भाव को समझने वाला तथा निपुणता से कार्य करनेवाला सेवक राजा के हाव-भाव से (अपने प्रति उसकी) अनुरक्ति या विरक्ति को जान ले। राजा को देखकर प्रसन्न होना चाहिए और उसके वचन को आदरपूर्वक सुनना चाहिए ॥

स्वामिनो मय्यनु[1]रक्ति (र्न) वेति विज्ञापयेत् (? विजानीयात्)। मय्यनुरक्तविरक्तस्य स्वरूपमाह—

स्वामी को मेरे प्रति अनुराग है या नहीं, यह जान लेना चाहिए। सेवक के प्रति अनुरक्त तथा विरक्त स्वामी का स्वरूप-वर्णन—

[2]दिशत्यासनमभ्याशे कुशलं परिपृच्छति।
विविक्तदर्शने[3] स्थाने रहस्यं च न शङ्कते[3] ॥
[4]तदर्थान्तत्कृतां चोच्चैराकर्णयति सत्कथाम्।
श्लाघते श्लाघ्यमानेषु श्लाघनीयश्च नन्दते[5] ॥
कथारम्भेषु स्मरति[6] प्रकृष्ट[7] कीर्तयेद्गुणान्।
सहतेऽतथ्यमप्युक्तं[8] न निन्दामनुवर्तते[9] ॥
करोति वाक्यं तद्रक्तं[10] तद्वचो[11] बहु मन्यते।
उपचारेषु मध्यस्थं[12] दर्शयत्यद्भुतेषु च[13]।
तत्कृतं कर्म चान्येन कृतामित्यभिभाषते ॥

[अनुरक्त स्वामी का लक्षण—] (अनुरक्त स्वामी सेवक को अपने) समीप में आसन पर बैठने के लिए कहता है; (उससे) कुशल-मंगल पूछता है; एकान्त स्थान में (उसकी उपस्थिति से) रहस्य खुल जाने

---

१ स्वामिनो मय्यनुरक्तिर्वेति। (घ) (ङ) योः। २ का० ।५।३५-४०। ३ ० दर्शनमिति पुस्तकेषु ॥ का०। ० दर्शने। इति। रहस्ये। इति। (घ) (ङ) योः। शङ्किते। ४ तदर्थं तत्कृतं चोच्चैरिति (ङ) पुस्तकपाठोऽशुद्धः। ५ का०। 'श्लाघनीयेषु श्लाघ्यमानं च नन्दति'। ६ का०। 'कथान्तरेषु'। ७ का०। 'प्रहृष्टः'। ८ इति मै० का० पाठोऽपि। अ० का०। 'पथ्यमुक्तस्सन्'। ९ का०। 'मन्यते'। १० का०। तस्यैवेति। तद्भक्तमिति अ० का० कामन्दकपाठान्तरम् (ङ) तेनोक्तं। ११ अ० का०। 'तद्वच्च'। मै० का०। तद्वचः। १२ का०। 'उपकारेषु माध्यस्थम्'। १३ वृद्धाविति श्लोकार्धः (अ० का० ५।३९) मैथिलपुस्तके रत्नाकरे नास्ति।

की आशंका नहीं करता है; उसकी अभीष्ट तथा उसकी कही हुई बात को ध्यान से सुनता है; प्रशंसनीय व्यक्तियों में उसकी प्रशंसा करता है और उसकी प्रशंसा सुनकर आनन्दित होता है; बातचीत के सिलसिले में उसका स्मरण करता है और बार-बार उसके गुणों को उच्च स्वर से कहता है; उसके मिथ्या भाषण का भी सहन कर लेता है उसकी निन्दा नहीं करता है; उसके साथ प्रेमपूर्वक बात करता है और उसकी बातों को बहुत मानता है; उसके प्रति किये गये उपकारों तथा अनोखे कार्यों में भी तटस्थता का भाव दिखलाता है और उसके किये हुए गलत काम को भी दूसरे का किया हुआ कहता है।

रहस्यं न शङ्कते[1] गोप्यमिदमनेनास्य भेद इति न शङ्कते, तदर्थां तदिष्टां कार्यान्तरेष्वनवसरेषु। अतथ्यमपि तेनोक्तं सहते क्षमते तत्कृतं कर्मेति अन्यकृतं तत्कृतं भाषते च शब्दाद्विपरीतं कर्म तेन कृतमन्यकृतं भाषते अनुरक्तौ।

रहस्यं न शङ्कते—अर्थात् यह बात गोपनीय है, इस (के सुन-लेने) से प्रकट हो जाएगी, ऐसी आशंका नहीं करता है। तदर्थाम् = जो उसे प्रिय हो। कार्यान्तरेषु=अनवसरों में [यह पाठ ऊपर के श्लोकों में नहीं आया है—अनुवादक]। अतथ्यमपि=अर्थात् उसके कहे हुए असत्य वचन को भी। सहते=क्षमा कर देता है। तत्कृतं कर्मेति अन्यकृतं तत्कृतं भाषते च = अर्थात् सेवक यदि आदेश के विपरीत भी कोई काम करता है तो राजा अनुरागवश दूसरे का किया हुआ कह देता है।

[2]विपक्षमुत्थापयति विनाशं चाप्युपेक्षते।
कार्ये संवर्धयत्याशां फले च कुरुतेऽन्यथा॥
यद्वाक्यं मधुरं किञ्चित्तदप्यर्थेन निष्ठुरम्।
आचरत्यात्मसंसत्सु परिवादेन[3] केवलम्॥
अकोपोऽपि हि कोपाभः[4] प्रसन्नोऽपि हि निष्फलः।
वदत्यकस्माद्वदति रूक्षं च मुहुरीक्षते[5]।

---

१ शक्यते। (घ) (ङ) योरशुद्धः पाठः।

२ का० ।५।४०-४७। ३ का०। 'परिवादं च'। परीवादेन। (ङ)।

४ अ० का०। 'स कोपाभः'। मै० का०। 'कोपाभः'। ५ अ० का०। 'हसत्यकस्माद् व्रजति रूक्षं च समुदीक्षते'॥ मै० का०। व्रजत्य० (शेषः यथा रत्नाकरे)।

[1]आघट्टयति मर्माणि सहन्नास्यं प्रपद्यते[2] ॥
संभावयति दोषेण[3] वृत्तिच्छेदं करोति च ।
साधूक्तमपि तद्वाक्यं समर्थयति चान्यथा ॥
अपर्वणि कथारम्भं[4] करोति विरसीभवन् ।
उपास्यमानः शयने सुप्तलक्षेण तिष्ठति ॥
यत्नेनाराध्यमानोऽपि सुप्तवच्च विचेष्टते ।
इत्यादि चानुरक्तस्य विरक्तस्य तु लक्षणम् ॥

[विरक्त स्वामी का लक्षण—] (विरक्त स्वामी सेवक को झगड़े में फँसाने के लिए उसके) विरोधी को उकसाता है और उस (सेवक के विनाश की भी उपेक्षा करता है; कार्य में आशा बढ़ाता है, किन्तु फल में विपरीत (निराश) कर देता है; जो कुछ मीठी बात भी करता है, उसका भी भाव कठोर रहता है; अपनी गोष्ठी में उसकी केवल निन्दा ही करता है; कुपित न रहने पर भी कुपित की तरह रहता है और प्रसन्न होने पर भी निष्फल होता है; अचानक बोल उठता है, रूखा बोलता है, और बार २ देखता है मर्मों को वेधता है तथा मुख को गंभीर बनाये रहता है; दोष लगाता है और जीविका नष्ट कर देता है; उसके कहे हुए समीचीन वचन का भी समर्थन नहीं करता है; वह कोई बात पूरी कह भी नहीं पाता है कि रूखा होकर उसे बात कहने से रोक देता है; शय्या पर सेवा किया जाता हुआ स्वामी सोने का ढोंग रच लेता है और यत्नपूर्वक आराधना किया जाने पर भी सोये हुए की तरह चेष्टा करता है। इस प्रकार अनुरक्त और विरक्त स्वामी के लक्षण बताये गये हैं ॥

विपक्षमुत्थापयति सेवकादेः विपक्षं प्रेरयति कलये (?)[5] पुनर्विनाशमप्युपेक्षते । विनाशस्याप्युपायं न कुरुत इत्यर्थः [।] साधूक्तमवश्यकर्तव्यमपि तद्वचनमन्यथा तदा तिरस्कृत्यान्य-

१ विज्ञाप्यमान इति श्लोकार्धः (अ० का० ।४३।) नास्ति मै० पुस्तके रत्नाकरे च । २ अ० का० । 'गुणैर्न बहु मन्यते' । मै० का० । हसन्नास्यं० । ३ मै० का० । 'दोषं च' । ४ का० । कथाभङ्गम् । चण्डेश्वरोऽपि टीकायां कथाभङ्गमित्येव पठति । ५ कलहे (?) । (ग) कालय (?) ।

द्वारेण साधयति। अपर्वणीति अपूर्णायां कथायां विरसीभवन् रूक्षीभवन् कथाभङ्गं करोति कथां छिनत्तीत्यर्थः।

विपक्षमुत्थापयति=सेवक आदि के विरोधी को झगड़ा करने के लिए प्रेरित करता है। पुनर्विनाशमप्युपेक्षते=फिर उसके लिए विनाश से बचने का उपाय भी नहीं करता है। साधूक्तम्=अवश्य करने योग्य भी उसके वचन को। अन्यथा=उस समय तिरस्कार करके अन्य प्रकार से सिद्ध करता है। अपर्वणि=बात पूरी न होने पर। विरसीभवन्=रूक्ष होता हुआ। कथाभङ्गं करोति=बात काट देता है।

[१]रक्ताद्वृत्तिं समीहेत विरक्तं च विवर्जयेत्[२]।

अनुरक्त स्वामी से जीविका पाने की इच्छा करे और विरक्त स्वामी को त्याग देना चाहिए।

इति अनुरागविरागपरीक्षाफलम्।

यह सेवक के प्रति स्वामी की अनुरक्ति और विरक्ति की परीक्षा का फल बताया गया है।

[३]निर्गुणं चापि[४] भर्तारमापत्सु न परित्यजेत्।
अतः परतरो नास्ति य आपत्सूपतिष्ठते॥
विपत्सु[५] धर्मधुर्याणां तेषां नामातिरिच्यते।
श्लाघ्या[६] चानन्दजननी[६] महतामुपकारिता॥
काले कल्याणमाधत्ते स्वल्पापि हि[७] महोदयम्।
राजानं ये ह्युपेक्षन्ते मज्जमानमकर्मसु[८]॥
ते गच्छन्त्यकृतात्मानस्सह तेन पराभवम्।
भर्तुश्चित्तानुवर्त्तित्वं[९] सद्वृत्तमनुजीविनाम्॥
अप्रियोऽपि हि पथ्यः स्यादिति वृद्धानुशासनम्।

---

१ का०।५।४७।२ का०।'परित्यजेत्'।३ का०।५।४८-५०।५३।५५।५९।६२। ४ का०। 'ह्यपि'। ५ इति मै० का०। अ० का०—'विरोधे' कर्मधुर्याणां। (ड)। नामाति विद्यते। ६ इति मै० का०। ०अ का०— 'चानन्दती'। (ड)। श्लाघ्यं। ७ का०। सु०। ८ अ० का०। 'सज्जमानं विकर्मसु'। मै० का०। 'सज्जमानमवर्त्मसु'। सज्जमानकर्मसु। (ड०) ९ वृत्तित्वं। (ड)

वृद्धानुशासने तिष्ठन् प्रियतामधि[1] गच्छति।
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं ज्वलन्तमुपसर्पति।
क्षीणक्षीरां निराजीव्यां वत्सस्त्यजति मातरम्॥

सेवक को चाहिए कि वह गुणहीन स्वामी को भी विपत्तिकाल में न छोड़े। उससे बढ़कर श्रेष्ठकोई नहीं है, जो विपत्तियों में साथ देता है। जो धर्मधुरन्धर व्यक्ति विपत्तियों में साथ देते हैं, उनका नाम बढ़ जाता है। महान् व्यक्तियों का उपकार करने का स्वभाव प्रशंसनीय तथा आनन्ददायक होता है। थोड़ा भी उपकार समय पर महान् फल देता है। जो अकार्यों में आसक्त राजा की उपेक्षा करते हैं, वे अज्ञानी (सेवक) उसके साथ पराभव को प्राप्त करते हैं। स्वामी के मन के अनुकूल चलना सेवकों का उत्तम आचरण है। ऐसा सेवक अप्रिय होने पर भी हितकर होता है, यह वृद्धों (विद्वानों) का आदेश है। वृद्धों के आदेश में रहने वाला व्यक्ति लोकप्रियता को प्राप्त करता है। यह संसार धन का इच्छुक है, अतएव यह धनवान् के पास जाता है। (यह निर्धन को वैसे छोड़ देता है जैसे) क्षीण दूध वाली तथा जीविका न देनेवाली माता को बछड़ा या पुत्र त्याग देता है॥

इदमनुजीविकृत्यम्।

यह सेवकों का कर्तव्य बताया गया है।

अथानुजीविनि राजकृत्यमत्रैव[2]।

इसके बाद सेवक के प्रति राजा का कर्तव्य भी यहीं बताया गया है।

अपात्रे वर्षणं यत्तन्न कुर्यात्सद्‌भिर्गर्हितम्[3]।
[4]अपात्रे [5]वर्षणादन्यत्किं स्यात्कोषक्षयादृते॥

अपात्र को जो धन दिया जाता है, वह सज्जनों द्वारा निन्दित होता है, (अतएव राजा को) ऐसा नहीं करना चाहिए। अपात्र को धन देने से सिवा खजाना खाली करने के और क्या होगा ?॥

वर्षणं जलवर्षणम् (?) इत्यर्थः।

वर्षणम् = जल की तरह बरसना (पानी की तरह बहाना)।

---

१ का०। मुप०। २ का०। ५।६५। ३ का०। 'अपात्रवर्षणं जातु न कुर्यात सद्भिर्गर्हितम्'। ४ का०। 'अपात्रवर्षणात् किं स्यादन्यत्'। ५ (ग)। का०। अपात्र०।

[1]कुलं विद्यां श्रुतं शौर्यं सौशील्यं भूतपूर्वताम् ।
वयोऽवस्थां च संलक्ष्य[2] आद्रियेत महात्मनाम्[3] ॥
[4]सुशीलान्नावमन्येत सम्यग्वृत्तान्मनस्विनः ।
त्यजन्ति तेऽवमन्तारं[5] घ्नन्ति वा मानहेतवे ॥
उत्तमाभिजनोपेतं[6] न नीचैस्सह वर्धयेत् ।
कृशोऽपि हि विवेकज्ञो याति[7] संश्रयणीयताम् ॥

कुल, विद्या, शास्त्र-ज्ञान, वीरता, सुशीलता, पहले रह चुका होना, अवस्था और स्थिति का विचार करके महान् व्यक्तियों का आदर करना चाहिए। सुशील, सदाचारी एवं मनस्वी व्यक्तियों का अपमान नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपमान करने वाले को या तो त्याग देते हैं या आत्म-सम्मान के लिए मार देते हैं। उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति को नीच पुरुषों के साथ नहीं बढ़ाना चाहिए; क्योंकि विवेकशील पुरुष क्षीण होने पर भी सेवनीय होता है ॥

उत्तमं नीचवत्सत्कारेण न वर्धयेदित्यर्थः । हि यतः विवेकज्ञ उत्तमाधमविचारवित् संश्रयणीयतां सेव्यत्वम् ।

उत्तम पुरुष को नीच पुरुष की भाँति सत्कार के द्वारा बढ़ावा नहीं देना चाहिए (अर्थात् उत्तम पुरुष का सत्कार उत्तम की तरह करना चाहिए नीच की तरह नहीं)। हि = क्योंकि। विवेकज्ञः = उत्तम और अधम का विचार जानने वाला। संश्रयणीयताम् = सेवनीयता को (सेवा करने के योग्य होने के भाव को)।

[8]लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां लोके विकाशिन्यापि किं तया ।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च विश्वासं[9] या न भुज्यते ॥

संसार में धनवानों को उस विख्यात सम्पत्ति से क्या लाभ, जिसका उपभोग बन्धुओं एवं मित्रों के साथ विश्वासपूर्वक न किया जाय ॥

विकाशिन्या विख्यातया, सम्पदा किं यदुपभोगो नास्ति बन्धुसुहृदादेः ।

---

१ का० ।५।६६।६७।६९ । २ अ० का । 'संवीक्ष्य' । मै० का० । 'संप्रेक्ष्य' । ३ का० । 'स्वाद्रियेत महामनाः' । ४ का० । 'कुलीनान्' । ५ अ० का० । 'त्यजन्त्येते हि भर्तारं घ्नन्ति वा मानहेतवः' । मै० का पाठोऽपि यथा रत्नाकरे । ६ का० । ०पेतान् । ७ जाति । इति (क) (ख) (ग) पुस्तकत्रयपाठोऽशुद्धः । ८ का० । ५।७२।
९ का० । 'विश्रब्धम्' ।

विकाशिन्या = प्रसिद्ध, सम्पत्ति से क्या लाभ जिसका उपभोग भाई-बन्धु न करें ?

[1]आयद्वारेषु सर्वेषु कुर्यादाप्तान् परीक्षितान् ।
आददीत फलं तेभ्यो[2] भास्वा[3]नुस्त्रैरिवोदकम् ॥
अभ्यस्तकर्मणस्तज्ज्ञान् शुचींस्तत्त्वार्थकोविदान्[4] ।
कुर्यादुद्योगसम्पन्नानध्यक्षान् सर्वकर्मसु ॥
यो यद्वस्त्वभिजानाति[5] तत्र तं विनियोजयेत् ।
[6]विशेषविषयप्राप्ताविन्द्रियार्थेष्विवेन्द्रियम् ॥
कोषागारे[7] भियुक्तः स्यात्तदायत्तं हि जीवितम् ।

राजा धन-प्राप्ति के द्वारों पर विश्वस्त एवं सुपरीक्षित जनों को नियुक्त करे और उन लोगों के द्वारा धन उसी तरह ग्रहण करे जैसे सूर्य किरणों के द्वारा जल ग्रहण करता है। सभी कार्यों पर ऐसे अध्यक्षों को नियुक्त करे , जो कार्य करने में अभ्यस्त हों, कार्यों के ज्ञाता हों, पवित्र हों, वास्तविक अर्थ के पण्डित हों और उद्योगी हों। जो जिस कार्य का जानकार हो, उसको उस कार्य पर उसी तरह लगाना चाहिए, जैसे जिस इन्द्रिय का जो विषय होता है, उस विषय को प्राप्त करने के लिए उस इन्द्रिय को लगाते हैं। खजाने के प्रति विशेष ध्यान रखना चाहिए ; क्योंकि जीवन उसी के अधीन रहता है (अर्थात् धन से ही जीवन-निर्वाह होता है) ॥

आयद्वारेषु धनागमद्वारेषु, आददीत गृह्णीयात् । उस्त्रै[8]ः किरणैः । सर्वकर्मसु कथितलक्षणान्नियोज्य कोषागारेऽ तियत्नशीलो भवेत् । तदाह[9] ।

आयद्वारेषु = धन मिलने के द्वारों पर । आददीत = ग्रहण करे । उस्त्रैः = किरणों से । सभी कार्यों पर उक्त लक्षण वाले व्यक्तियों को

---

१ का० । ५।७३-७६ । २ अ० का० । 'आददीत धनं तैस्तु' ॥ मै० का० । 'फलं तैस्तु' । ३ भास्वानस्रैरिति (घ) (ङ) योः । ४ अ० का० । शुद्धार्थसञ्जतान्' । मै० का० । 'शुद्धार्थसम्मतान्' । ५ का० । विजानाति । ६ का० । अशेष० । ७ कोषागारेति युक्तः । (घ) (ङ) योः । ८ अस्रैः । (ङ) । ९ का० । ५।७६ ।

नियुक्त करके कोषागार में (धन बढ़ाने के लिए) प्रयत्नशील रहना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

नान्यायं च[१] व्ययं कुर्यात्प्रत्यवेक्षेत चान्वहम्।

अनुचित व्यय नहीं करना चाहिए और प्रतिदिन (कोष का) निरीक्षण करना चाहिए।

इति यत्नरूपम्।

यह प्रयत्न का स्वरूप है (अर्थात् प्रयत्नशील रहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिदिन आय-व्यय का निरीक्षण करके अपव्यय को रोके)। [यहाँ 'नात्यायं च' पाठ के अनुसार अर्थ होगा—न तो अत्यन्त आय करे और न अत्यन्त व्यय।]

[२]अल्पमप्यपकुर्वन्ति ये पापाः पृथिवीपतेः[३]॥
अग्नौ पतङ्गा इव ते[४] दह्यन्ते मूढचेतसः॥

जो पापी तथा मूढ़ चित्त वाले लोग राजा का थोड़ा भी अपकार करते हैं, वे अग्नि में पतंग की तरह नष्ट हो जाते हैं॥

इत्यादि नीतिशास्त्रेषु बहु विततम्। तत्सर्वसारमाह।

ऐसी बातें नीति-शास्त्रों में बहुत विस्तार से कही गई हैं। उन सबका सार यह है—

कामन्दकः[५]

कामन्दक ने कहा है—

संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः।
राज्ञस्तस्मादविश्वासः केवलं हितमात्मनः॥

नीति शास्त्रों का संक्षेप यह है कि (हठात्) विश्वास न करना परम कर्तव्य है। इसलिए विश्वास न करना राजा के लिए केवल अपने हित की बात है॥

[६]बृहस्पतेरविश्वासः इति शास्त्रस्य[७] निश्चयः।

विश्वास न करना यह बृहस्पति के शास्त्र का निश्चय है।

---

१ का०। 'नात्यायं च'। २ का०। ५।८५। ३ का०। 'स्वल्प...पृथिवीपतौ ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गा मूढचेतसः'॥ ४ हि। (ङ)। ५ अनन्तशयन (त्रिवेन्द्रम्) संस्कृतग्रन्थावलेः कामन्दकीयनीतिसारे नोपलभ्यत एष श्लोकः। मै० हस्तलिखितपुस्तके तु प्राप्यत एव। ६ का०। ५।८८। ७ अ० का०। शास्त्रार्थनिश्चयः। मै० का०। 'शास्त्रविनिश्चयः'।

इदं वाचस्पत्यादि । याज्ञवल्क्यः[1] ।

यह बार्हस्पत्य आदि नीति-शास्त्रों का कथन है। याज्ञवल्क्य ने कहा है—

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैस्तु विशेषतः ॥

राजा ठगों, चोरों, दुराचारियों, दुः साहसियों और विशेष करके कायस्थों से पीडित होती हुई प्रजाओं की रक्षा करे ॥

चाटः प्रतारकः, तस्करा अत्र विश्वासेन धनहारिणः । दुर्वृत्ताः कितवः[2], महासाहसिकाः स्वार्थमध्य[3] कारिणः । कायस्था लेखकाः, गणकाश्च । विशेषत इति । तेषां राजवल्लभतया मायावितया दुर्निवारत्वात् । नन्वनुजीव्याद्यविश्वास एव तदा सन्दिग्धार्थनिश्चयो न स्यात्तन्नाति[4] विश्वसेदित्यादिवाक्यात्तस्याति-विश्वासाभावपरत्वात् ॥ तथा च राजा परविश्वासेन न समो भवेदित्यर्थः ॥

चाट = ठग । यहाँ 'तस्कर' का अर्थ है विश्वास दिलाकर धन हरण करने वाले। दुर्वृत्ताः=धूर्त। महासाहसिकाः = स्वार्थसिद्धि में तत्पर रहने वाले, महास्वार्थी। कायस्थाः = पटवारी, ज्यौतिषी। विशेषत इति-विशेष रूप से इसलिए कहा गया है कि पटवारी लोग राजा के प्रिय-पात्र एवं मायावी होते हैं, अतएव उनको (धन चूसने से) रोकना कठिन बात है। प्रश्न होता है कि जब सेवकों पर अविश्वास ही किया जाएगा तब संदिग्ध विषयों का निश्चय कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि 'नातिविश्वसेत्' इत्यादि वचनों के प्रमाण से यहाँ 'अविश्वास' का अर्थ है अत्यन्त विश्वास न करना। इससे यह निकला कि साधारण जन की तरह राजा को हठात् विश्वास नहीं करना चाहिए।

इति श्रीचण्डेश्वरकृतो दूतादितरङ्गः ॥

श्री चण्डेश्वर का बनाया हुआ दूतादि-निरूपण नामक तरंग समाप्त ॥

---

१ या० । १।३३६।   २ कितवादयः । (घ) (ङ) योः । मि० ।
३ मि० । प्रसह्यापहारिणः ।   ४ का० । ५।६८ ।

अथ साधारणपालनादिराजकृत्यम्

द्वादशस्तरङ्गः

अब प्रजा-पालन आदि राजा के सामान्य कर्तव्य का निरूपण किया जाता है—

मनुः[1]।

मनु ने कहा है—

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥

युद्ध में पीठ न दिखाना, प्रजाओं का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना-ये राजाओं के लिए परम श्रेयस्कर (कर्तव्य) हैं। प्रजा का पालन करना ही क्षत्रिय का परम धर्म है, क्योंकि (प्रजा से कर रूप में) निर्दिष्ट फल को प्राप्त करने के कारण राजा उस धर्म से संबद्ध होता है॥

याज्ञवल्क्यः[2]।

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम्॥

न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता हुआ राजा (प्रजा के) पुण्य का छठा भाग प्राप्त किया करता है। अतः प्रजा का भली भाँति पालन समस्त दानों से अधिक फल प्रदान करनेवाला होता है॥

मनुः[3]।

मनु ने कहा है—

आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपीति।

स्त्री तथा धन से अधिक सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए।

प्रसङ्गात्प्रागुक्तम्। यथार्थशास्त्रेऽपि[4]।

प्रसंगवश यह पहले कहा जा चुका है। जैसा कि अर्थशास्त्र (कामन्दकीय) में भी कहा है—

---

१ म० ।७।८८।१४४। २ या० ।१।३३५। ३ म० ।७।२१३। ४ का० ।१।१४-१५।

प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति[1] तं नृपम् ।
वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तन्नाशे हि[2] तदप्यसत् ॥
न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमथ च प्रजाः[3] ।
त्रिवर्गेणाभि[4] सन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा ॥

राजा प्रजा की सुरक्षा करता है और प्रजा (धन-धान्यादि से) राजा की (श्री-) वृद्धि करती है । किन्तु वृद्धि की अपेक्षा सुरक्षा अधिक श्रेयस्कर है; क्योंकि रक्षा न होने पर वृद्धि की कोई संभावना ही नहीं है । न्याय-परायण (होने पर) राजा अपने को और प्रजाओं को धर्म, अर्थ और काम से सम्पन्न करता है, अन्यथा निश्चित ही उक्त तीनों का नाश करता है ॥

षड्भागमुपलक्षणं, यावता प्रजानां पीडा न स्यात्तावदेव प्रजापालनस्यावश्यकत्वात् । यद्यप्यर्थशास्त्रे 'त्रिवर्गेणाभिसन्धत्ते' इत्यनेन पुरुषार्थेषु प्रथमोपात्तत्वात् 'आत्मानं सततं रक्षेदि' त्यादिना च याव[5] दायुः परिपालनं तावदिति वक्तुमुचितम् । तथापि प्रजापालनस्योभयलोकेष्ट[6] साधनत्वात् प्रजापालनमेव प्रथमतः कार्यमत एव नारदः[7] ।

[ऊपर याज्ञवल्क्य के श्लोक में आया हुआ] 'षड्भाग' शब्द उपलक्षणार्थक है (अर्थात् कुछ भाग का सूचक है) क्योंकि प्रजा का उतना ही पालन करना आवश्यक है जितने से उसे कष्ट न हो । यद्यपि अर्थशास्त्र में 'धर्म, अर्थ, काम से सम्पन्न करता है', इस कथन के द्वारा पुरुषार्थों में धर्म को प्राथमिकता दी गई है और 'आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए' इत्यादि के द्वारा आत्मरक्षा को ही पहला कर्तव्य मानना चाहिए तो भी प्रजापालन इहलोक और परलोक दोनों का साधन है, अतएव राजा को प्रजा-पालन ही सबसे पहले करना चाहिए । इसीलिए नारद ने कहा है—

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः ।

---

१ का० । पार्थिवम् । २ मै० का० 'तु०' । अ० का० । 'ऽन्यत्' सदप्यसत् । ३ का० । प्रजाम् । ४ का० । उप० । ५ यावतायुः परिपालनं । (घ) (ङ) योः । ६ उभयलोकेषु साधनत्वादिति (क) (ख) (ग) (घ) पुस्तकेष्वपपाठः । ७ ना० । १।३९ ।

अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ॥

जहाँ धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध पड़े, वहाँ अर्थशास्त्र का कहना छोड़कर धर्मशास्त्र का कहना माने ॥

याज्ञवल्क्यः[1] ।

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥

व्यवहार के विषय में दो धर्मशास्त्रों में जब परस्पर विरोध हो तो वहाँ विरोध के परिहार के लिए अन्वय के व्यतिरेकात्मक व्यवहार से विषय की व्यवस्था करनेवाला न्याय अर्थात् तर्क बलवान् होता है। अर्थशास्त्र से बलवान् धर्मशास्त्र होता है (क्योंकि प्रमेय धर्म से अर्थ को अप्रधान माना जाता है) ॥

विप्रतिपत्तिर्विरोधः। इदमुभयोर्निरवकाशत्वेऽन्यथासिद्धमेव तस्यैवोक्तत्वात्। तथा च प्रजापालनं स्वरक्षणं रणा[2]निवर्तित्वं ब्राह्मणशुश्रूषेति राज्ञामसाधारणो धर्म इति प्राञ्चः। नव्यास्तु प्रथमत आत्मरक्षणं दृष्टमुख्यफलकत्वात्। 'सर्वत आत्मानं गोपायित' श्रुतेश्चात एव स्पष्टमाह मनुः[3]।

विप्रतिपत्ति = विरोध। यह तो दो (धर्मशास्त्रों) के निरवकाश होने पर अर्थात् विरोध के कारण अपने-अपने विषय में चरितार्थ न होने पर एक को दूसरे की अपेक्षा बलवान् मानना आवश्यक ही है। यही बात ऊपर कही गई है। ऐसी स्थिति में प्रजा का पालन करना, अपनी रक्षा करना, युद्ध से न भागना और ब्राह्मणों की शुश्रूषा करना राजाओं का असाधारण धर्म है—यह प्राचीन आचार्य कहते हैं—नवीनों का कहना है कि पहले अपनी रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि यह प्रधान फल माना गया है। श्रुति भी कहती है—'सबसे पहले आत्मा की रक्षा करो'। अतएव मनु ने स्पष्ट कहा है—

एवं सर्वं विधायेदमिति कर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥

---

१ या० । २।२१ । २ बलानिवर्तित्वमिति (ङ) पुस्तकपाठः प्रामादिकः ।
३ म० ।७।१४२।

इस प्रकार अपने सभी कार्यों की व्यवस्था करके स्थिर और प्रमादरहित होकर इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥

एवमुक्तप्रकारेण सर्वमात्मनः कार्यजातं संपाद्य[1] युक्तः प्रमादरहित आत्मीयाः प्रजा रक्षेदिति मन्वर्थ इति [१ ।] मनुः[2] ।

एवम् = उक्त प्रकार से, अपने सम्पूर्ण कार्यकलाप को सम्पन्न करके स्थिर एवं प्रमादरहित होकर अपनी प्रजाओं की रक्षा करे यह मनु का तात्पर्य है। फिर मनु ने कहा है—

तान् सर्वानभिसन्दध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥

उन सभी राजाओं को साम, दान, दण्ड और विभेद आदि एक या दो सभी उपायों से वश में करे; अथवा केवल दण्ड से या केवल साम से उन्हें वश में करे ॥

तान् वक्ष्यमाणनृपतीन् उपक्रमैरुपायैः, पौरुषेण प्रतापादिना नयेन नीतिशास्त्रोक्तेन ।

तान् = आगे कहे जाने वाले राजाओं को। उपक्रमैः = उपायों से। पौरुषेण = पराक्रम आदि के द्वारा। नयेन = नीतिशास्त्रोक्त विधि से।

[3]सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणं[4] चिन्तयेत्सदा ॥

विजगीषु राजा को चाहिए कि वह १ सन्धि (मेल मिलाप), २ विग्रह (विरोध), ३ यान (शत्रु देश पर चढ़ाई करना), ४ आसन (शत्रु की उपेक्षा करके चुप बैठे रहना), ५ द्वैधीभाव (कार्यसिद्धि के लिये सेना को दो भागों में बाँटना) और ६ संश्रय (शत्रु से संत्रस्त होने पर दूसरे बलवान् राजा का आश्रय लेना) इन छह गुणों का सदा चिन्तन करे ॥

सन्धिमेकीभवननिबन्धं, विग्रहमपकारं, शत्रुं प्रति गमनं यानम्, उपेक्षणमासनं, बलस्य द्विधाकरणं द्वैधीभावं, प्रबलनृपाश्रयं संश्रयः, शत्रुतः प्रधानैरेतैरुपायैः गुणैश्चात्मरक्षेत्यर्थः अत एव सदा चिन्तयेदिति । उपायानाह याज्ञवल्क्यः[5] ।

सन्धि = एक होने का भाव, मेलमिलाप। विग्रह = अपकार। यान=

---

१ कु० ।७।१४२। संपाद्योद्युक्तः । २ म० ।७।१५९।
३ म० ।७।१६०। ४ म० षड्गुणान् । ५ या० ।१।३४६।

शत्रु पर चढ़ाई करना। आसन=(शत्रु की) उपेक्षा करना। द्वैधीभाव= सेना को दो भागों में बाँटना। संश्रय = प्रबल राजा का आश्रय लेना। इन प्रधान उपायों या गुणों के द्वारा आत्म-रक्षा की जाती है। अतएव सदा इनका चिन्तन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने उपायों के बारे में कहा है—

[1]उपायाः साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च।
सम्यक्प्रयुक्ताः सिध्ये[2]युर्दण्डस्त्वगतिका गतिः ॥

साम (मधुर एवं प्रिय भाषण के द्वारा कार्य सिद्ध करना), २—दान (सुवर्णादि धन देकर काम बना लेना), ३—भेद (सामन्त आदि में परस्पर बैर उत्पन्न करके अपनी सिद्धि करना) और ४—दण्ड (वध पर्यन्त धन का अपहरण आदि अपकार करना) उपाय कहलाते हैं। ये (चारों उपाय देश काल के अनुसार) भली भाँति प्रयुक्त होने पर कार्य में सफलता दिलाते हैं, किन्तु दण्ड तभी काम में लाना चाहिए जब कोई भी उपाय काम न करे ॥

साम प्रियभाषणं, दानं सुवर्णादेः, भेदो भेदनं, वधपर्यन्तोऽपकारो दण्डः। पुनः स एवाह[3]।

साम=प्रिय बोलना। दान=सुवर्ण आदि देना। भेद=फूट डालना। दण्ड=वध तक अपकार करना। पुनः मनु ने ही कहा है—

सन्धिं च विग्रहं यानमासनं संश्रयं तथा।
द्वैधीभावं गुणानेतान्यथावत्परिपालयेत् ॥

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव—इन गुणों का पूर्ण रूपसे परिपालन करना चाहिए ॥

अमीषां कालानाह मनुः[4]।

मनु ने इन सब गुणों के प्रयोग का समय (इस प्रकार) बताया है—

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत ॥
यदा प्रकृष्टा[5] मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।

१ उपवाद्य। (घ) (ङ) योः। २ सिद्धेयुः। (ङ)। ३ या० ।१।३४७। ४ म० ।७।१६९-१७४। ५ म०। प्रहृष्टा।

अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥
यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥
यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्[1] ॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥
यदा परबलानां तु [2]गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥

जब वह समझे कि भविष्य में अपनी वृद्धि निश्चित है तब तत्काल सामान्य हानि होने पर भी (शत्रु राजा से) सन्धि करले । जब समझे कि अपनी सारी प्रकृति (मन्त्री आदि अधिकारी वर्ग) पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है और शत्रु की अपेक्षा सब प्रकार से अपना बल अधिक है तब (शत्रु से) विग्रह करे । जब अपनी सेना को बलवान् और शत्रु सेना को इसके विपरीत (निर्बल) समझे तब शत्रु पर आक्रमण करे । जब राजा अपने वाहन और सैन्य-बल से क्षीण हो जाय तब साम आदि साधनों द्वारा शत्रु को धीरे-धीरे शान्त करता हुआ चुप बैठा रहे । जब राजा सब प्रकार से शत्रु को बलवान् समझे तब अपनी सेना को दो भागों में विभक्त करके (अर्थात् कुछ सेना अपने साथ रखे और कुछ शत्रु से लड़ने के लिए भेजकर) अपना कार्य साधन करे । जब राजा अपने को शत्रु-सेना के हाथ में जाने वाला ही समझे तब वह शीघ्र ही किसी धार्मिक एवं बलिष्ठ राजा के आश्रय में चला जाय ॥

आयत्यामुत्तरकाले, तदात्वे तत्काले, गमनीयतमोऽतिशयेन ग्राह्यो, निजप्रकृतिदोषादिना राजेति शेषः ॥

आयत्याम् = भविष्य में । तदात्वे = उस समय । गमनीयतमः = अर्थात् अपने सैन्य-दोष आदि के कारण बिलकुल कैद करने योग्य राजा ।

तत्सेवनप्रकारमाह[3]—

---

१ म० ।'अरिम्' । २ गमनीयतमो भवेदित्यादि तदात्वे तत्काले इत्यन्तः पाठो लेखकप्रमादात् (ङ) पुस्तके त्रुटितः । ३ म० ।७।१७५। (घ) (ङ) योः । विग्रहं ।

उस (धार्मिक एवं बलवान् राजा) की सेवा करने का तरीका बताया है—

> निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
> उपसेवेत तन्नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुर्यथा[1] ॥

जिन अमात्य आदि प्रकृतियों के कारण राजा दुर्बल हुआ है और जिस शत्रु के बल से वह भयभीत हुआ है, उन दोनों का निग्रह करने वाले राजा का आश्रय लेकर वह, उसकी गुरु की भाँति सब प्रकार से सेवा करे ॥

संश्रयतो वैगुण्ये ।

(अपनी) अक्षमता की स्थिति में आश्रय लेने वाले का (कर्त्तव्य) ।

> [2]यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
> सुयुद्धमपि तत्रापि निर्विशङ्कः[3] समाचरेत् ॥

यदि आश्रय लेने पर भी अपनी कार्य-सिद्धि न देखे तो निर्भय होकर भली भाँति युद्ध भी करे ॥

यद्येवं केनाप्युपायेनात्मरक्षा न स्यात्तदा क्षत्रियाणां युद्धमेवाश्रय इति निर्विशङ्कः । न नु सेवा श्ववृत्तिरयशस्करी 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादिभगवद्वाक्या[4]त्पश्चात्कर्तव्यमिति च प्रथममेव कथं नेति, सत्यमेतत् , परन्तु एषा श्ववृत्तिरपि धर्म्यैव[5] वचनात् प्रथमोक्तश्रुतिस्मृतिबलात् स्वरक्षापूर्वकमेव यशः प्रशस्तम् । प्रथमयुद्धे निन्दा चेति तदाह मनुरेव[6] ।

यदि इस प्रकार किसी भी उपाय से आत्म-रक्षा न हो सके तो क्षत्रियों को युद्ध ही का आश्रय लेना चाहिए, यह निःसन्देह कहा जा सकता है । प्रश्न होता है कि सेवा कुत्ते की वृत्ति है तथा अपयश दिलाने वाली है और क्षत्रियों के लिए 'धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर और कोई वस्तु नहीं है' इत्यादि भगवद्वचन के अनुसार भी युद्ध पहले

---

१ म० गुरु'' यथा । अत्र' 'गुरुं' इति पाठः समीचीनः । २ म० ।७।१७६।
३ म० । 'स युद्धमेव' ' 'निर्वितर्कः' । ४ भ० गीता ।२।३१॥ पुस्तकेषु 'धर्माद्धि युद्धः' पाठो न समीचीनः । ५ धर्मैवेति (ङ) पुस्तकपाठोऽशुद्धः ।
६ म० ।७।१९७–९९ ।

करना चाहिए न कि (बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण करने के) पश्चात् युद्ध करना चाहिए। उत्तर-यह कहना ठीक है, किन्तु यह कुत्ते की वृत्ति भी धर्मयुक्त ही है—इस वचन से और पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति के बल से अपनी रक्षा पूर्वक यश प्राप्त करना ही प्रशस्त माना गया है। और (आश्रय लेने से) पहले युद्ध करने की मनु ने ही निन्दा की है--

उपजप्यानुजपेद्बुध्येतैव[1] च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे[2] युध्येत[3] जयप्रेप्सुरपेतभीः॥
साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन॥
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्य[4] मानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्॥

विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह शत्रु-पक्ष के भेदियों को फोड़ डाले और उनके कार्य को जाने। (तत्पश्चात्) निर्भय होकर शुभ मुहूर्त में युद्ध ठान दे। (दुर्बल विजिगीषु को चाहिए कि वह) साम, दान या भेद, इनमें से किसी एक उपाय से या इन सभी उपायों से शत्रुओं को जितने का प्रयत्न करे, युद्ध से जीतने का प्रयत्न न करे। क्योंकि युद्ध करते हुए दोनों पक्षों में से जीत और हार का संग्राम में कोई निश्चय नहीं रहता। इसलिए (जहाँ तक हो) युद्ध से परहेज करना चाहिए॥

तथा[5]।

और भी--

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याऽभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥
आयतिं[6] सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥
आयत्यां[7] गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।

---

१ पुस्तकेषु० ध्येत बुद्धेच्चैवेति भ्रष्टः पाठः। २ देवैरिति पुस्तकेषु
३ (ङ) युद्धेत। ४ (ङ)। युद्धमानयोः। ५ म० ।७।१७७–७९।
६ आयन्तिमिति (क) (ख) (ग) पुस्तकेषु ॥ (घ) (ङ) योः। आयन्ती।
७ (क) (ख) (ग) पुस्तकेषु अयन्त्यामिति ॥ (घ) (ङ) योः। आयन्त्या।

अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥

नीतिज्ञ राजा सभी उपायों से ऐसा कार्य करे, जिससे उसके शत्रु, मित्र तथा उदासीन की संख्या न बढ़ने पावे। (ऐसी स्थिति में) राजा भूत, वर्तमान और भविष्यकाल के समस्त गुण-दोषों का भली-भाँति विवेचन करे॥ जो राजा भविष्य के (कार्यों के) गुण-दोषों को समझता है, वर्तमान में (कार्यों का) शीघ्र निश्चय कर लेता है और भूतकाल के कार्यों के शेष भाग को जानता है, वह शत्रुओं से पराजित नहीं होता है॥

मित्रोदासीनशत्रव इति द्वादशराजमण्डलाभिप्रायेण [।] तदाह—

मित्र, उदासीन और शत्रु—ये (आगे बताये जाने वाले) बारह राज-मंडल के अभिप्राय से कहे गये हैं। जैसा कि—

याज्ञवल्क्यः—

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

अरिर्मित्रमुदासिनोऽनन्तरस्तत्परः परः[1]।
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपक्रमैः ॥

अपने राज्य से लगे हुए देश का राजा अरि होता है और उस देश से लगे हुए देश का स्वामी मित्र होता है तथा उससे आगे वाले देश का राजा उदासीन होता है। इस प्रकार चारों दिशाओं में शत्रु, मित्र और उदासीनों का एक मण्डल हो जाता है। अतः क्रम से साम आदि उपायों द्वारा उनसे अपना अपकार न हो--ऐसा चिन्तन करते रहना चाहिए।

मनुः[2]—

मनु ने कहा है--

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः॥
एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः॥

---

१ या० ।१। ३४५। 'ऽन्तरन्तरत्परस्परः' इति 'ऽन्तरन्तं परस्परः' इति च पाठौ रत्नाकरपुस्तकस्थौ प्रामादिकौ। २ म० ।६।३१५-६।

राजा को चाहिए कि वह (१) मध्यम की चाल-ढाल, (२) विजिगीषु की चेष्टा और (३) उदासीन तथा (४) शत्रु की संचरण स्थिति का बड़े यत्न से पता लगावे। मध्यम आदि उक्त चार की प्रकृतियाँ संक्षेप से राज-मंडल की मूल हैं। इनके अतिरिक्त (१ मित्र, २ अरिमित्र, ३ मित्रमित्र, ४ अरिमित्रमित्र, ५ पार्ष्णिग्राह, ६ आक्रन्द, ७ पार्ष्णिग्राहसार, ८ आक्रन्दसार) आठ प्रकृतियाँ और हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर राजमंडल की बारह प्रकृतियाँ कही गई हैं॥

जो शत्रु की विजय की इच्छा करने वाले राजा की भूमि से तटस्थ हो और उन दोनों के मिल जाने पर अनुग्रह करने में तथा उन दोनों में विभिन्नता होने से दण्ड देने में समर्थ हो वह मध्यम है। बुद्धि, उत्साह गुण और स्वभाव में जो दृढ़ हो, उसे विजिगीषु कहते हैं। जो विजिगीषु और मध्यम के मिले रहने पर अनुग्रह करने में और उनके न मिले रहने पर निग्रह करने में समर्थ हो, वह उदासीन है।

अस्यार्थः। विजिगीषु[1]नृपस्य चतुर्दिक्षु क्रमसोऽरिमित्रोदासीनास्त्रय एवं द्वादशराजक[2]मण्डलं विजिगीषुणा त्रयोदशकराजकमिति। अरिमित्रोदासीनास्त्रिविधाः सहजकृत्रिमप्राकृतभेदात्, एतद्भिन्नो निग्रहानुग्रहसमर्थो मध्यमः, पार्ष्णिग्राहाक्रन्दसेवा एषामन्तर्भवन्ति[3] नीतिशास्त्रे[4] मयमैत्रविशालाक्षादिमनुबृहस्पतिशुक्रादिमतभेदेन चतुर्विंशत्यधिकत्रिशतं मण्डलं तद्विस्तरभयान्नोक्तम्। चिन्तयेदिति शेषः।

इसका अर्थ है—विजिगीषु राजा के चारों दिशाओं में क्रमशः शत्रु, मित्र और उदासीन ये तीन और बारह राजमंडल होते हैं। विजिगीषु को लगाकर तेरह राजमंडल होते हैं। सहज, कृत्रिम और प्राकृत के भेद से शत्रु, मित्र और उदासीन तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इनसे भिन्न निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ मध्यम कहलाता है। पार्ष्णिग्राह (सेना पर पीछे की ओर से आक्रमण करनेवाला शत्रु) और आक्रन्द (मित्र राजा पर होने वाले आक्रमण को रोकने वाला राजा) भी उन्हीं (शत्रु, मित्र, उदासीन) के अन्तर्गत हैं। नीति-शास्त्र में मय, मैत्र, विशालाक्ष, मनु, बृहस्पति और शुक्र आदि आचार्यों के मतभेद से तीन सौ चौबीस राज-मंडल होते हैं। उन सबको विस्तार के भय से यहाँ नहीं बताया गया है। यहाँ अन्त में 'चिन्तयेत्' क्रिया को जोड़ना

---

१ विजिगीषोर्नृपस्य। (ङ)। २ राजकं मण्डलं। (ङ)।
३ भवति। (घ) (ङ) योः। ४ कामन्दकीये। ८।२०।३८। वचनानि द्रष्टव्यानि।

चाहिए (तब अर्थ होगा-राजा को बारह राजमंडल का चिन्तन करते रहना चाहिए)।

[1]बकवत् चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चानुलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥

राजा बगुले की तरह धन प्राप्त करने की चिन्ता करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये की तरह अवसर पाकर शत्रु को मार डाले और (बलवान् शत्रु से घिर जाने पर) खरहे की तरह निकल भागे ॥

बकवन्मत्स्यग्रहणे यथा बकः, सिंहवत्प्रबलेऽपि हस्तिनि यथा पराक्रमेत्[2] तथा विपक्षे[3] वृकवत् यथा वृकः रक्षितमपि पशुं व्यापादयति[4] दुर्गादिरक्षितमप्यरिं लुम्पेत् व्यापादयेत्, शशवद्यथा शशः प्राणघातका[5]वृतोऽपि कुटिलगत्या प्रपलाय्य गच्छति तथा शत्रुपरिवृतो रिपुं प्रतारयन्बलवन्तमन्यमाश्रयेत् ।

बकवत् = जैसे बगुला मछली पकड़ने में (ध्यानमग्न रहता है वैसे राजा धन का ध्यान करे) सिंहवत् = जैसे सिंह बलवान् हाथी पर भी टूट पड़ता है उसी तरह राजा शत्रु पर टूट पड़े। वृकवत् = जैसे भेड़िया सुरक्षित पशु को भी मार देता है, उसी तरह राजा किले आदि में सुरक्षित भी शत्रु को मार दे। लुम्पेत् = मार दे। शशवत् = जैसे खरहा हिंसकों से घिर जाने पर भी टेढ़ी-मेढ़ी चाल से भागकर निकल जाता है उसी तरह राजा शत्रुओं से घिर जाने पर शत्रु को छलता हुआ बलवान् राजा के आश्रय में चला जाय।

[6]एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः[7] ॥

इस प्रकार विजयी राजा साम आदि उपायों के द्वारा अपने सभी शत्रुओं को वश में कर ले ॥

प्रजापालने हेतुमाह—

प्रजाओं का पालन करने का कारण बताते हैं—

---

१ म० ।७।१०६। २ पराक्रमीत । (घ) (ङ) योः । ३ तथारिपक्षे । (घ) ।
४ तथा दुर्गादि० । (घ) । ५ प्राणघातको वृतोपीति (घ) (ङ) योरशुद्धः पाठः ।
६ म० ।६।१०६। ७ उपक्रमेदिति (क) (ख) (ग) (ङ) पुस्तकेषु ।

[1]मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ।
शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥

जो राजा मोह (अज्ञान या लोभ) वश कर्तव्याकर्तव्य का विचार न करके अपनी प्रजा को सताता है, वह शीघ्र ही अपने बन्धुओं सहित राज्य और जीवन से हाथ धो बैठता है। जैसे (भोजनादि के अभाव में) शरीर के क्षीण होने से प्राणियों के प्राण नष्ट होते हैं, वैसे ही प्रजाओं के पीडित होने से राजाओं के भी प्राण नष्ट हो जाते हैं ॥

तत्प्रकारमाह—

प्रजा-पालन का तरीका बताते हैं—

[2]यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥

जैसे खेतिहर घास को उखाड़कर फेंक देता है और धान्य को बचाता है, उसी तरह राजा को शत्रुओं का नाश तथा राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए ॥

निर्दातात्र कृषीवलः, कक्षं तृणसमूहम्, उद्धरति समुत्पाटयति ।

अधिकारिण आह—

निर्दाता = किसान । कक्षम् = घासों के समूह को । उद्धरति=उखाड़ देता है। अधिकारियों (की नियुक्ति) के बारे में बताते हैं--

[3]द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्मप्रतिष्ठितम्[4] ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥

राज्य की रक्षा के लिए राजा दो, तीन, पाँच तथा सात सौ गाँवों के बीच में (आवश्यकतानुसार) रक्षक समूह को नियुक्त करे प्रत्येक गाँव के लिए एक-एक ग्रामाधिपति (मुखिया) नियुक्त करे और फिर दस,

---

१ म० ।७।१११-११२। २ म० ।७।११०। ३ म० ।११४-५।
४ म० । 'गुल्ममधिष्ठितम्' ।

बीस, सौ और हजार गाँवों के लिए एक-एक पृथक् अधिकारी नियुक्त करे ।।

राष्ट्रस्य संग्रहं राष्ट्ररक्षास्थानम् । एकस्य दशानां विंशतेः शतस्य सहस्रस्य वा ग्रामाधिपतिमेकं कुर्यात् लाघवगौरवापेक्ष उक्त-विकल्पः ।

राष्ट्रस्य संग्रहम्=राष्ट्र की रक्षा के स्थान को (गुल्मप्रतिष्ठित=सैन्य-युक्त, करना चाहिए) । एक, दस, बीस, सौ या हजार गाँवों के लिए एक अधिपति को नियुक्त करे । यह विकल्प लाघव और गौरव को ध्यान में रखकर किया गया है (अर्थात् आवश्यकतानुसार एक-एक, दस-दस आदि के लिए एक-एक अधिपति नियुक्त करे अथवा एक, दस आदि के लिए एक अधिपति नियुक्त करे) ।

[1]ग्रामे दोषान्[2] समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय[3] दशेशो विंशतीशिने ।।
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ।।

गाँव में किसी प्रकार का दोष अर्थात् उपद्रव या अशान्ति उत्पन्न होने पर यदि ग्रामाधिपति उसके निवारण में असमर्थ हो तो वह दशग्रामाधिपति से उसके शमन के लिए कहे । यदि वह भी उसको शान्त करने में असमर्थ हो तो दशग्रामपति विंशतिग्रामाधिपति से निवेदन करे । इसी प्रकार (उत्तरोत्तर असमर्थ होने पर) विंशतिपति शतपति से और शतपति सहस्रपति से निवेदन करे ।

एते पालने स्वयमसमर्थाः परस्मै निवेदयेयुरिति ।

ये अधिपति लोग पालन करने में स्वयम् असमर्थ होने पर एक दूसरे से निवेदन करें ।

[4]यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः[5] ।
अन्न[6]पानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ।।

---

१ म० ।७।११६-७। २ (क) (घ) (ङ) पुस्तकेषु । 'ग्रामादायान्' ।
३ शतेशाय । इति (क) (ख) (ग) (घ) पुस्तकेषु । ४ म० ।७।११८-१२१ ।
५ (क) । 'ग्रामराशिभिः' । ६ (क) (ख) । अनु० ।

दशी हलं तु[1] भुञ्जीत विंशी पञ्चहलानि[2] च ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यस्सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रित[3]ः ॥
[4]नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥

ग्रमवासी लोग राजा के लिए प्रतिदिन जो अन्न, पान, ईंधन आदि देते हों, उन्हें ग्रामाधिपति प्राप्त करें। दस गाँवों का अधिकारी एक कुल (छह जोड़े बैलों से जोतने योग्य भूमि) को, बीस गाँवों का अधिकारी पाँच कुल को, सौ गाँवों का अधिकारी एक गाँव को और हजार गाँवों का अधिकारी एक नगर को (अपनी जीविका के लिए राजा) से प्राप्त करे। उन ग्रामाधिकारियों के गाँव सम्बन्धी कार्यों तथा अन्य कार्यों को राजा का दूसरा स्नेही सचिव आलस्य रहित होकर देखे। राजा को चाहिये कि वह प्रत्येक नगर में एक-एक ऐसे पदाधिकारी को नियुक्त करे, जो सब कार्यों की देख-भाल करे और भय एवं आतंक उत्पन्न करने वाले ठाट-बाट से रहता हुआ ऐसा तेजस्वी दिखाई दे, जैसे नक्षत्रों में शुक्र आदि दिखाई देते हैं ॥

राजप्रदेयानि राज्ञो देयानि, दशी दशग्रामाधिपः तेषामियं वृत्तिरित्यर्थः ।

राजप्रदेयानि = राजा को दिये जाने योग्य। दशी = दस गाँवों का अधिपति। उन लोगों की यह (भूमि आदि) जीविका होगी।

[5]राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥
ये कार्षिकेभ्यो[6]ऽर्थमेवं गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ॥

---

१ म० । कुलं तु । इति ॥ २ म० । 'पञ्चकुलानि' । 'कुलं ग्रामैकदेशः...इति कल्पतरुः । अन्ये तु कुलं हलद्वयकृष्टा भूमिः । 'कुलं तु द्विगुणं हलम्' इति स्मरणात् ।...'अष्टागवं धर्म्यहलम्'...इति हारीतस्मरणात् ।' इति मित्रमिश्रः राजनीतिप्रकाश । पृ० २५१ । ३ म० । 'अतन्द्रितः' । ४ नागरे । (ष) ।
५ म० ।६।१२३-२४ । ६ म० । 'कार्यिकेभ्यः' ।

राजा के रक्षाधिकारी नौकर प्रायः घूसखोर और वंचक हुआ करते हैं। इसलिए राजा उन शठों से प्रजा की रक्षा करे। जो पापात्मा राज-कर्मचारी या पदाधिकारी किसानों या कार्यार्थी लोगों से घूस लें, राजा उनका सर्वस्व अपहरण करके उन्हें राज्य से निकाल दे॥

प्रवासनं[1] देशात्तेषां निष्काशनम्। एवं बहुविधप्रजापालन-प्रकारं संक्षिप्याह याज्ञवल्क्यः[2]।

प्रवासनम् = उन लोगों को देश से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार प्रजा-पालन के अनेक तरीकों को संक्षिप्त करके याज्ञवल्क्य ने कहा है—

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद्राजाऽऽश्रितवर्गेषु[3] प्रजासु च यथा पिता॥

राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमावान्, स्नेही जनों के प्रति सीधा, शत्रुओं के प्रति क्रोधी और आश्रित वर्गों तथा प्रजाओं के प्रति पिता की भाँति (दयालु एवं हितैषी) होना चाहिए॥

अथ राज्ञः समरापलायनादयो धर्मशास्त्रे निगदिताः। अत्र तु पराङ्मुखस्यार्थहान्यादीति प्रसङ्गः[4]॥

इसके बाद राजा का युद्ध से न भागना आदि धर्मशास्त्र में बताये गये हैं। यहाँ युद्ध से भागने वाले की अर्थ-हानि आदि होती है; यह प्रसंग है।

इति श्रीचण्डेश्वरकृतो राजकृत्यतरङ्गः।

श्री चण्डेश्वर का रचा हुआ राज-कार्य-निरूपण नामक तरंग समाप्त।

---

१ प्रवासनमिति नास्ति। (ङ)। २ या० ।१।३३४। ३ या०। 'भृत्यवर्गेषु। ४ (क) (ख)। ० हान्यादिति०।

अथ दण्डः

त्रयोदशस्तरङ्गः

दण्ड-निरूपण प्रारंभ किया जाता है—

मनुः[1]—

मनु ने कहा है—

तस्यार्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद् भोगाय कल्प्यन्ते[2] स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥

राजा की कार्यसिद्धि के लिए ईश्वर ने सभी प्राणियों के रक्षक, धर्म की मूर्ति, ब्रह्मतेजोमय तथा पुत्ररूप दण्ड की पहले सृष्टि की। उस दण्ड के भय से चर, अचर सभी प्राणी सुख भोगने में समर्थ होते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं ॥

तथा ।

और भी—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥
समीक्ष्य मध्यतः[3] सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥

दण्ड सभी प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, दण्ड जीवों के सोते रहने पर जगा रहता है। इसलिए विद्वान् लोग दण्ड को धर्म समझते हैं। विचारपूर्वक दिया गया दण्ड सभी प्रजाओं को प्रसन्न रखता है; किन्तु बिना विचार किये दिया गया दण्ड सब प्रकार से नाश करता है ॥

याज्ञवल्क्यः[4]—

तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ।

---

१ म० ।७।१४-१५।१८।१९ । २ म० । 'कल्पन्ते' । ३ म० । (ग) । 'स धृतः' । ४ या० ।१।३५४ ।

धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥

राज्य पाकर राजा दुराचारियों को दण्ड दे; क्योंकि पहले ब्रह्मा ने दण्ड रूप से धर्म को बनाया है ॥

तदवाप्य राज्यं प्राप्य, पातयेन्नियोजयेत् ।

तदवाप्य = राज्य प्राप्त करके। पातयेत् = प्रयुक्त करे या लगावे।

[1]दण्डो द्विविधः । शारीरोऽर्थदण्डश्च । यथाह नारदः[2] ।

दण्ड दो प्रकार का होता है—(१) शारीरिक (दण्ड) और (२) अर्थ-दण्ड (जुर्माना)। जैसा कि नारद ने कहा है—

शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डश्च[3] द्विविधः स्मृतः ।
शारीरस्ताडनादिस्तु मारणान्तः प्रकीर्तितः ॥
काकीन्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्तस्तथैव च ।

दण्ड दो प्रकार का माना गया है—शारीरिक और अर्थदण्ड। जिनमें पिटाई से लेकर वध पर्यन्त का दण्ड शारीरिक-दण्ड कहलाता है और कौड़ी से लेकर सर्वस्व पर्यन्त का दण्ड अर्थदण्ड कहा जाता है ॥

शारीरोऽर्थदण्डश्चापि दशधा [।] तत्तु पल्लवे विस्तृतम् । याज्ञवल्क्यः[4] । 'शारीरो दशधा प्रोक्तो ह्यर्थदण्डस्तथैव चे'ति मिताक्षरा[5] । शारीरस्ताडनादिरर्थदण्डः काकिन्यादिः, कस्मिन् कियानिति व्यवहारदर्शने नियमितम् । संक्षिप्य दण्डभेदानाह स एव ।

शारीरिक दण्ड और अर्थदण्ड दोनों दस-दस प्रकार के होते हैं, यह पल्लव-ग्रन्थ में विस्तार से बताया गया है। याज्ञवल्क्य ने कहा है- 'शारीरिक दण्ड और अर्थदण्ड दस-दस प्रकार के होते हैं', यह (याज्ञवल्क्य स्मृति की) मिताक्षरा टीका में लिखा हुआ है। पिटाई आदि को शारीरिक दण्ड और कौड़ी आदि को अर्थदण्ड कहते हैं। किस अपराधी को कितना दण्ड दिया जाय, यह मुकदमे के विचार

---

१ 'दण्डो द्विविधः......... तथैव च' इत्यानुपूर्वीकः पाठो मिताक्षरायामपि दृश्यते । (या० १।३६१)। २ ना० । परिशिष्टे । ५३-५४ ।

३ दण्डस्तु । (घ)। ४ याज्ञवल्क्यवचनमत्र पतितम् । ५ या० ।१।३६१।

वाले प्रकरण में बताया गया है। याज्ञवल्क्य ने ही दण्ड के भेदों को संक्षिप्त करके (इस प्रकार) बताया है—

[1]धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।
योज्या व्यस्ताः समस्ताश्च ह्यपराधवशादिमे ॥

धिग्दण्ड (डाँटना-फटकारना), वाग्दण्ड (कोसना-शाप देना), धनदण्ड (जुर्माना) और वधदण्ड (मारना) ये अपराध के अनुसार अलग-अलग या सामूहिक रूप से दिये जाने चाहिए॥

वाग्दण्डश्शापवचनात्मकः ।

वाग्दण्ड=बुरी भावना व्यक्त करना या जली-कटी सुनाना।

ज्ञात्वापराधं कालं च देशं बलमथापि वा ।
वयः कार्यं च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥

अपराध, काल, देश, शक्ति, अवस्था, कार्य और आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर अपराधी को दण्ड देना चाहिए॥

अपराधानुसारिणो दण्डा इति । दण्डस्य दृष्टादृष्टार्थफलकत्वं धनदण्डवधदण्डयोरुक्तत्वात् तदाह मनुः[2] ।

अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिए। धनदंड और वधदंड को क्रमशः दृष्ट फल और अदृष्ट फल का द्योतक कहा गया है।

मनु ने दण्ड के बारे में कहा है—

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः[3] ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद् भोगाय कल्प्यते[4] ॥
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय[5] कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥
दुष्येयुः[6] सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वमेव तत्[7] [१] ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥

---

१ या० ।१।३६६-८ । २ म० ।६।२२-२८ । ३ 'शुचो नरः' । इति (क) (ख) (ग) पुस्तकेषु । ४ म० । 'कल्प०' । ५ कल्प्यन्ते । (घ) (ङ) योः । ६ दुःखेयुः । इति (क) (ख) (ग) पुस्तकेषु । ७ म० 'सर्वसेतवः' ।

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥
तं राजा प्रणमेत्[1] सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥

सारा संसार दण्ड के अधीन है। पवित्र मनुष्य का मिलना कठिन है। दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण जगत् भोग भोगने में समर्थ होता है। देवता, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और नागगण, सभी दण्ड-भय से पीड़ित होने पर ही भोगों को भोगने में प्रवृत्त होते हैं। दण्ड का उचित उपयोग न हो तो सभी वर्ण दूषित हो जाँय, सारी मर्यादा विच्छिन्न हो जाय और लोक में विद्रोह फैल जाय। जहाँ पापनाशक, श्यामवर्ण (भयानक), रक्तनेत्र (तेजस्वी) और पापनाशक दण्ड चलता है, वहाँ दण्ड देने वाला यदि न्याय से अपना कार्य करे तो प्रजा दुःखी नहीं होती। उस दण्ड का प्रयोग करने वाले राजा को (महर्षियों ने) सत्यवादी, सुविचारक, बुद्धिमान् और धर्म, अर्थ, काम का ज्ञाता कहा है। उस दण्ड को जो राजा प्रणाम करता है अर्थात् उचित रूप में प्रयोग करता है, उसके धर्म, अर्थ, काम की अभिवृद्धि होती है। (इसके विपरीत) जो राजा विषयासक्त, क्रोधी और खोटे विचार का होता है, वह उसी दण्ड से मारा जाता है। दण्ड महान् तेजस्वी है। अविवेकी व्यक्ति द्वारा उसे धारण करना बड़ा कठिन है। धर्म-भ्रष्ट राजा को वह बन्धु समेत नष्ट कर देता है॥

याज्ञवल्क्यः[2] ।

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम् ।
सम्यक् तु दण्डनं राज्ञां स्वर्गकीर्तियशोवहम् ॥

अधर्मपूर्वक किया हुआ दण्ड स्वर्ग, कीर्ति और लोक का नाश करने वाला होता है। सम्यक् प्रकार से अर्थात् शास्त्रोक्त न्याय से किया हुआ वही दण्ड राजाओं को स्वर्ग, कीर्ति और यश देता है॥

---

१ म० 'प्रणयन्'। २ या० ।१।३५७। ३ याः ।० राज्ञः० जयावहम्। इति।

अत्र दण्डनं काम्यमन्यत्र नित्यमतो[1] नित्यकाम्यम् । यत्तु काम्यमेव नित्यमेव वा तन्न । तदकरणे—

'दण्डोत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत् त्रिरात्रं पुरोहितः कृच्छ्रमदण्डचदण्डने पुरोहित' इति वसिष्ठवचनेन[2] प्रायश्चित्तश्रवणात् ॥

यहाँ दण्ड देना काम्य (ऐच्छिक) बताया गया है और दूसरी जगह नित्य (सनातन), अतएव इसको नित्यकाम्य विधि कहना चाहिए। जो इसको केवल नित्य या केवल काम्य मानते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि इसके न करने पर—

'दण्ड का त्याग करने पर राजा एक रात उपवास करे, पुरोहित तीन रात और अदण्डनीय व्यक्ति को दण्ड देने पर पुरोहित कृच्छ्रव्रत (उपवासात्मक प्रायश्चित्त) करे' इस वसिष्ठ के वचन के अनुसार प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। [अतएव दण्ड को केवल काम्य नहीं कह सकते हैं, केवल नित्य मानने पर उक्त याज्ञवल्क्य का वचन विरुद्ध जाता है, इसलिए नित्यकाम्य मानना ही उचित है।]

[3]यो दण्डयान् दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च पातयेत्[4] ।
इष्टं स्यात् क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः ।
[5]दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद् भोगाय कल्पते[6] ।

जो राजा दण्ड देने योग्य व्यक्तियों को दण्ड देता है और वध के योग्यों का वध कराता है, वह विशेष दक्षिणा वाले यज्ञों का फल प्राप्त करता है। क्योंकि दण्ड के भय से ही सारा संसार भोग भोगने में समर्थ होता है।

इत्यादिबहुतरफलश्रवणाच्च (।) न च सन्ध्योपासनादिवत् फलश्रवणे नित्यत्वमिति वाच्यं साक्षात्सुखादेरेव फलत्वे विवक्षितत्वात् , अन्यथा [7]तयोरेकशेषः कर्तुमशक्यत्वात् ।

इस प्रकार दण्ड के बहुत अधिक फल सुने जाने के कारण भी उसको नित्यकाम्य मानना चाहिए। यदि कहें कि सन्ध्योपासन आदि की तरह फल सुनने में दण्ड की नित्यता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि साक्षात् सुख आदि को ही फल कहा जाता है। (यहाँ दण्ड

---

१ नित्यमत इति । नित्यमेव वेति च नास्ति (ङ)पुस्तके । २ व० ।१९।४०-४२। ३ या० ।१।३५९। ४ या० । 'घातयेत्' । ५ म० ।७।२२। ६ (ङ) । कल्प्यते ।
७ विशेष इत्यर्थः । एकशेष- कर्तुमिति (ङ) पुस्तकपाठोऽशुद्धः ।

का फल यज्ञादि तुल्य कहा गया है न कि साक्षात् सुख) अन्यथा उन दोनों में किसी एक को करना असंभव हो जायगा।

इति[1] सञ्चिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं[3] पृथक्।
व्यवहारान् स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥

इस प्रकार यज्ञ तुल्य फल को सोचकर सभासदों के साथ स्वयं राजा पृथक् पृथक् मुकदमों को देखे (जिससे किसी अदण्डनीय को दण्ड न दिया जाय और दण्डनीय को छोड़ा न जाय) ॥

साध्य[2]मूलविवादो व्यवहारः। स तु प्रजानामेव नृपस्य तदीशत्वादिति न राजेश्वरेण न्यायपथादुत्पथिकस्य धर्मभङ्गभिया व्यवहारो द्रष्टव्य एव विशे[3]षपुरस्कारेणान्यथा 'स्वतन्त्रः पृथिवीपति' रित्यस्य कृतनिवृत्त्यप्रसङ्गः स्यात्।

हल करने योग्य मूल विवाद (झगड़े) को व्यवहार (मुकदमा) कहते हैं। वह प्रजाओं का ही होता है, क्योंकि राजा प्रजाओं का स्वामी होता है (अतएव वह प्रजाओं का मुकदमा देख सकता है। उसका मुकदमा कौन देखेगा ?) —यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्राट् को न्याय-मार्ग का अतिक्रमण करने वाले राजा का मुकदमा धर्म-भंग के भय से विशेष पुरस्कार के साथ देखना ही चाहिए; अन्यथा 'सम्राट् स्वतन्त्र होता है' यह नारदीय वचन 'राजा द्वारा लगाये गये दण्ड को सम्राट् रोक सकता है' इस कथन का उपोद्बलक नहीं होगा।

मनुः[4]—

मनु ने कहा है—

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥

पवित्रहृदय, सत्यनिष्ठ, शास्त्र के अनुसार चलने वाला, बुद्धिमान् और अच्छे सहायकों वाला राजा दण्ड का समुचित प्रयोग कर सकता है ॥

शुचिनार्थादिशौचयुक्तेन, सत्यसन्धेन दृढप्रतिज्ञेन।

---

१ या० ।१।३५८। ०फली इति (ङ) पुस्तके। २ (ङ) मध्ये मूलविवाद इति पाठोऽशुद्धः। ३ 'विशेषः'। इति (क) (ख) (ग) (घ) पुस्तकेषु।

४ म० ।७।३१।

शुचिना = जो धन आदि के विषयों में पवित्र हो (ईमानदार)। सत्यसन्धेन = जिसकी प्रतिज्ञा अटल हो।

[1]सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥

जो राजा मंत्री, सेनापति आदि सहायकों से रहित है, मूर्ख है, लोभी है, शास्त्र-ज्ञान से शून्य है और विषयासक्त है, वह इस दण्ड को न्यायपूर्वक नहीं चला सकता है॥

इति विधिनिषेधौ।

मनु के पहले श्लोक में योग्य राजा द्वारा दण्ड का विधान बताया गया है और दूसरे श्लोक में अयोग्य राजा द्वारा दण्ड का निषेध कहा गया है।

इति चण्डेश्वरकृतो दण्डतरङ्गः॥

श्रीचण्डेश्वर द्वारा रचित दण्ड-निरूपण नामक तरंग समाप्त॥

---

१ म० ।७।३०।

अथ राजकृतराज्यदानम्

चतुर्दशस्तरङ्गः

अब राजा द्वारा राज्य देने का निरूपण किया जाता है—

तत्र मनुः[1] ।

इस विषय में मनु ने कहा है—

दत्त्वा दानं[2] तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमु[3]च्छ्रतम् ।

पुत्रे राज्यं समासज्य[4] कुर्वीत प्रायणं रणे ॥

सभी प्रकार के दण्डों से बढ़ा हुआ धन ब्राह्मणों को देकर और राज्य पुत्र को सौंपकर राजा युद्ध में शरीरान्तर ग्रहण करे ॥

रणमुपलक्षणं मोक्षसाधनोपाय इत्यर्थः । अयमर्थः राजा राज्या[5]न्निस्पृहत्वे ज्येष्ठपुत्राय राज्यं दत्त्वा मोक्षसाधनोपायं कुर्यात् । ननु[6] पुत्रमात्रोपादाने कथं ज्येष्ठायैवेति चेन्न ।

यहाँ रण उपलक्षण है अतएव अर्थ होगा मोक्ष-प्राप्ति का उपाय। तात्पर्य यह है कि राजा राज्य से निःस्पृह होने पर ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर मोक्ष-प्राप्ति का उपाय करे। आशंका होती है कि श्लोक में पुत्र मात्र का उल्लेख है तब ज्येष्ठ को ही राज्य देकर-यह अर्थ कैसे किया ? इसका उत्तर देते हैं—

यदा राजा जरायुक्तो रोगार्तो निस्पृहोऽपि च ।

आसन्नमृत्युं विज्ञाय कुलधर्मं विचारयन् ॥

तदा परौजनान् सर्वानाहूय मन्त्रयेच्च तैः ।

सप्ताङ्गानि च राज्यानि ज्येष्ठपुत्राय दापयेत् ॥

जब राजा वृद्ध, रोग से पीड़ित और निःस्पृह भी हो जाय तब अपनी मृत्यु को निकट समझकर कुल-धर्म का विचार करके नगर के सभी लोगों को बुलवावे। उनसे सलाह लेकर अपने ज्येष्ठ पुत्र को सात अंगों वाला राज्य (१ राजा, २ मंत्री, ३ मित्र, ४ कोश, ५ राष्ट्र-६ दुर्ग और ७ सेना) दे दे ॥

---

१ म० ।९।३२३। २ म० । (ख) (ङ) योः । धनमिति । ३ म० । 'सर्वदण्ड-समुत्थितम्' । ४ म० । 'समासृज्य' । ५ राज्यास्पृहत्वे । (घ) (ङ) योः । ६ नन्वित्यारभ्य कुलधर्मं विचारयन्नित्यन्तः पाठो नास्ति । (ङ) पुस्तके ।

दापयेत् दद्यात्, 'विधाय वृत्तिं बहूनां राज्यं ज्येष्ठाय दापये-दि'ति राजनीतौ[1] हारीत-नारद-वचनेभ्यः। पुत्र इत्येकवचने-नानेकस्यासम्भवात्। प्राधान्याज्ज्येष्ठस्य न्याय्यत्वाच्च। अत्रार्थे मनुः[2]।

दापयेत् = दिला दे। 'बहुत से पुत्रों के लिए जीविका का प्रबन्ध करके ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दे दे' यह राजनिति-ग्रन्थ में हारीत और नारद के वचनों से उद्धृत किया गया है। 'पुत्राय' में एकवचन के प्रयोग से बहुतों का ग्रहण होना असंभव है। सर्वश्रेष्ठ होने तथा न्याययुक्त होने के कारण भी ज्येष्ठ को ही राज्य देना चाहिए। इस विषय में मनु ने कहा है—

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः॥

जिस पुत्र के उत्पन्न होने से पिता पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है और जिसके द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है, वही धर्मज पुत्र है; शेष पुत्रों को (ऋषियों ने) कामज पुत्र कहा है॥

अत्रैवैतदर्थे व्यासः।

यहीं इस विषय में व्यास ने कहा है—

शाश्वतोऽयं स्मृतो धर्मः पार्थिवानां नरर्षभ।
न यवीयान् स्थिते ज्येष्ठे राजा भवितुमर्हति॥

हे नरश्रेष्ठ! यह राजाओं का सनातन धर्म कहा गया है कि ज्येष्ठ पुत्र के रहते छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता॥

यवीयान् कनिष्ठः शाश्वतोऽयमिति सनातनोऽनादिपरम्परा-गतधर्मोऽयं पार्थिवानामित्यन्वयः। भारते[3]।

यवीयान् = छोटा (पुत्र)। शाश्वतोऽयम् = राजाओं का यह सनातन एवम् अनादि परम्परा से चला आता हुआ धर्म है। महाभारत में कहा है—

कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान्राज्यमर्हति।
एतत्सम्बोधयामस्त्वां धर्मं त्वं परिपालय॥

---

१ न हि कामन्दकनीतौ हारीतनारदवचनानि सन्ति। एषाऽपरैव राजनीतिः किंचित्। २ म० ।९।१०७। ३ म० भा०। आदि० ।७९।२२।

ज्येष्ठ पुत्र का अतिक्रमण करके छोटा पुत्र कैसे राज्य पाने का अधिकारी हो सकता है ? इसलिए हम तुम्हें समझा रहे हैं, तुम धर्म का पालन करो ॥

ज्येष्ठं तिरस्कृत्य कनीयसे राज्यदानमधर्म इति वचनाशयः । रामायणे[1] ।

उक्त वचन का आशय यह है कि ज्येष्ठ पुत्र का तिरस्कार करके छोटे पुत्र को राज्य देना अधर्म है । रामायण में कहा है—

न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि[2] ।
[3]बहूनामपि पुत्राणामेको राज्येऽभिषिच्यते ॥

स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ।
तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ॥

आसञ्जन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ।
[3]ते च ज्येष्ठाः सुपुत्रेषु ज्येष्ठेष्वेव न संशयः ।
[2]आसञ्जन्त्यखिलं राज्यं न भ्रातृषु कथञ्चन ।

हे कोप करने वाली ! राजा के सभी पुत्र राज्य नहीं पाते हैं । बहुतों में से एक का राज्याभिषेक होता है । सब पुत्रों को राज्याभिषिक्त करने पर महान् अन्याय होगा । इसलिए हे सुन्दरी ! हे कैकेयी ! राजा लोग दूसरे पुत्रों के गुणवान् होने पर भी शासनसूत्र ज्येष्ठ पुत्र को ही सौंपते हैं । वे ज्येष्ठ भी निःसन्देह (अपने) ज्येष्ठ सुपुत्रों को ही सम्पूर्ण राज्य सौंपते हैं, (अन्य) भाइयों को कथमपि नहीं सौंपते हैं ॥

स्थाप्यमानेष्वित्याद्युक्त्या एक एव राजा तत्रापि ज्येष्ठ एवेति दर्शितम् । आसञ्जन्ति निःक्षिपन्ति तन्त्राणि कार्याणि । अत्रैव वसिष्ठवाक्यम्[5] ।

'स्थापित=राज्याभिषिक्त करने पर' इत्यादि कथन से एक ही राजा हो और उसमें भी ज्येष्ठ पुत्र ही हो—यह दिखाया गया है । आसञ्जन्ति=सौंपते हैं । तन्त्राणि=कार्यों को । इसी सन्दर्भ में वसिष्ठ का कथन है—

---

१ रा० । अयो० ।८।२३-४ । २ भाविनि । (ङ) ३ नोपलभ्यते मुद्रितरामायणे । (ङ) समासन्त्यखिलं राज्यं । ४ रा० स्थापयन्तीति ।

५ रा० ।अयो० । ११०।३६ ।

इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।
पूर्वजे नावरः पुत्रो[1] राज्ये समभिषिच्यते ॥

सभी इक्ष्वाकुवंशियों में जिसका जन्म पहले हुआ हो, वह राजा होता है। ज्येष्ठ पुत्र के रहते छोटे पुत्र का राज्याभिषेक नहीं होता है ॥

इक्ष्वाकूणामित्युपलक्षणं चशब्दात् । राज्ञामेतत्समं तस्मादिक्ष्वाकूणां विशेषत इति पुनस्तत्रैव तेनोक्तत्वाच्च[2] ननु राज्यादानमेकस्मा[3] 'इत्यर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति[4] स्थिति' रितिवचनाद्धर्मशास्त्रस्य[4] प्राबल्ये[5] 'पैतामहं च पित्र्यं चे' त्यादिवाक्येन तस्यापि विभाज्यतेति चेन्न, राज्यमविभाज्यमिति वक्ष्यमाणत्वात् । तदुभयान्यथासिद्धौ तद्वचना[6]प्रसक्तेः राज्ञा दत्तस्यानिवर्त्यत्वे[7] नापि राज्यस्याविभज्यत्वाच्च[8] । अत्र मनुः[9] ।

ऊपर के श्लोक में 'च' शब्द के प्रयोग से 'इक्ष्वाकूणाम्' यह उपलक्षण (अन्यों का भी बोधक) है। यह समान रूप से सभी राजाओं के लिए है, क्योंकि वहीं पुनः वसिष्ठ ने कहा है कि 'इसलिए इक्ष्वाकुवंशियों को विशेष रूप से (ऐसा करना चाहिए)। प्रश्न होता है कि राज्य एक (ज्येष्ठ पुत्र) को देना चाहिए, यह कैसे होगा ? क्योंकि 'अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है' इस वचन से धर्मशास्त्र की प्रबलता सिद्ध होने पर 'पितामह और पिता के राज्य का विभाजन करे' इस वचन के अनुसार उस राज्य का भी विभाजन हो जाएगा (तब एक ही को कैसे सौंपा जायगा ?)। उत्तर यह है कि राज्य का बँटवारा नहीं होता है, यह आगे बतायेंगे। इसलिए ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य देना और राज्य का विभाजन न करना—इन दोनों बातों के सिद्ध हो जाने पर 'अर्थशास्त्रात्तु—' और 'पैतामहं च—' इन वचनों की यहां प्राप्ति नहीं है, और राज्य को अविभाज्य मानने का कारण यह भी है कि राजा के दिये हुये को लौटाया नहीं जा सकता

---

१ रा० । 'ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।' २ तेनोक्तम् । (ङ)
३ (ख) एकस्मिन्नपी० । एकस्मिन् (ङ) । ४ या० ।२।२१।
५ पिता० इति पुस्तकेषु । ६ ०वचनप्रसक्तेः । इति पुस्तकेषु ।
७ अनिवर्त्तत्वेन । (घ) (ङ) योः । ८ (क)(ख)(घ)(ङ) । अविभाज्य० ।
९ म० ।७।१३।

(ऐसी स्थिति में जब राजा एक पुत्र को राज्य दे देगा तब उसका बँटवारा कैसे होगा ?) । इस विषय में मनु ने कहा है—

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु[1] संव्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तद्धर्मंन्न विचालयेत् ॥

इसलिए राजा भले लोगों के लिए जिस इष्ट धर्म की और बुरे लोगों के लिए जिस अनिष्ट धर्म की व्यवस्था करे, उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥

न विचालयेन्नोल्लङ्घयेत् ।

न विचालयेत् = उल्लंघन न करे ।

नारदः[2] ।

नारद ने कहा है—

अस्वतन्त्राः प्रजाः सर्वाः स्वतन्त्रः[3] पृथिवीपतिः ।

प्रजायें सब परतन्त्र होती हैं और राजा स्वतन्त्र होता है ।

'स्वातन्त्र्यमप्रतिहतेच्छत्वं राजा महीपति' रिति कामधेनौ स्पष्टम् । च न[4] 'भूर्ये' त्यादिवचनेन क्रमागते राज्ये स्वाम्यसाम्यात्स्वार्जितं राज्यं देयमिति वाच्यं तेषां मुनिभिरविशेषेणोपादेयत्वात् क्रमागतराज्यदान एव वसिष्ठाद्युक्तेर्लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पति' रिति वचनात्तेषां राज्यातिरिक्तपरत्वाच्च । राजकृतं प्रमाणमत्र हेतुमाह ।

स्वान्त्र्यम् = इच्छा पूर्ति में किसी प्रकार को रुकावट का न होना । महीपतिः = राजा । कामधेनु नामक ग्रन्थ में ऐसा स्पष्ट अर्थ किया गया है । प्रश्न होता है कि 'भूर्य' इत्यादि वचन के अनुसार वंशक्रम से प्राप्त राज्य पर (सब पुत्रों का अधिकार बराबर है, इसलिए राजा को अपना उपार्जित किया हुआ राज्य (ज्येष्ठ पुत्र को) देना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि मुनियों ने स्वोपार्जित राज्य देना चाहिए— इसका विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया है; बल्कि वसिष्ठ आदि महर्षियों ने क्रमागत राज्य देने के लिए ही कहा है । 'सामान्य जनों के आचरण

---

१ (क) (ख) (ग) पुस्तकेषु—'यविष्ठेषु' । २ ना० । ऋ० । ३२ । नारद इत्यारभ्य राज्यातिरिक्तपरत्वाच्चेत्यन्तः पाठो नास्ति (ङ) पुस्तके । ३ स्वतन्त्रं च महीपतिः । (घ) । ४ या० । २ । १२१ ।

से राजा का आचरण भिन्न होता है' इस बृहस्पति-वचन के अनुसार उन दान विषयक वचनों को राज्य-दान से भिन्न परक भी समझना चाहिए। राजा का किया हुआ कोई कार्य प्रमाण होता है, इसमें कारण यह है—

मनुः[१]।

मनु ने कहा है—

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरस्स वरुणस्स महेन्द्रः प्रभावतः॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा[२] नररूपेण तिष्ठति॥

वह राजा अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र (तुल्य) होता है। राजा यदि बालक भी हो तो भी साधारण मनुष्य समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य रूप में वह कोई विशेष देवता विराजमान रहता है॥

कात्यायनः।

कात्यायन ने कहा है—

क्षयोदयौ[३] जीवनं च राजदैववशान्नृणाम्।
तस्मात् सर्वेषु कार्येषु तत्कृतं न विचालयेद् इति[४]।

इति श्रीचण्डेश्वरकृतोऽत्र राज्यदानतरङ्गः[५]।

मनुष्यों की हानि, उन्नति और जीवन राजा और भाग्य के अधीन होते हैं। इसलिए सभी कार्यों में उसके आदेश का उल्लंघन नहीं करना चाहिए॥

श्री चण्डेश्वर द्वारा रचित राज्य-दान-निरूपण नामक तरंग यहाँ समाप्त हुआ।

---

१ म० ।७।७—८।   २ ह्येता। (घ)

३ क्षयोदयो० इति (क) (ख) (ग) (ङ) पुस्तकेषु।

४ नारदः। अस्वतन्त्राः प्रजाः सर्वाः स्वतन्त्रश्च महीपतिः। स्वातन्त्र्यमप्रतिहतेच्छत्वं राजा महीपतिरिति कामधेनौ स्पष्टम्। न च भूर्येत्यादिवचनबलात्क्रमागतराज्ये स्वाम्यसाम्यात्स्वार्जितं राज्यं देयमिति वाच्यम्। तेषां मुनिभिरविशेषेणोपादेयत्वात्क्रमागतराज्यदानतरङ्गः॥ (ङ)   ५ नास्ति। (ङ)

पञ्चदशस्तरङ्गः

अथ पुरोहितादिकृतराज्यदानम्

अब पुरोहित आदि के द्वारा किये जाने वाले राज्य-दान का निरूपण किया जाता है—

[1]राज्यमदत्त्वैव राज्ञि मृते राजपुत्राय पुरोहितमन्त्रिभिरपि राज्यं दातव्यं वैदिकलौकिककर्मसु[2] राजप्रातिनिध्यात्। बहुषु ज्येष्ठायेति सम्प्रदायः। ननु राजपरोक्षे राजपुत्रस्यैव राज्यं कथं तैर्दातव्यमिति चेन्न। तैरेव न ग्राह्यमधर्मश्रवणादित्यभिप्रायात्। 'अत्र विवादपरिहारार्थ' मिति लक्ष्मीधरः। 'राज्यभङ्गभिये'ति पल्लवकारः। राजनीतौ नारदः[3]।

राज्य न देकर ही राजा के मर जाने पर पुरोहित और मंत्री राजा के पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त करे, क्योंकि वैदिक और लौकिक कार्यों में वही लोग राजा का प्रतिनिधित्व करते हैं। बहुत पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देना चाहिए, यह परम्परागत प्रथा है। प्रश्न होता है कि राजा के परोक्ष में राजा के पुत्र का ही राज्य होता है, तब वे लोग क्या देंगे? उत्तर—वे लोग स्वयं राज्य न हड़प लें, ऐसा करने से उन्हें अधर्म होगा—यह अभिप्राय है। यहाँ कोई विवाद न उठ खड़ा हो (इसलिए उन्हें ऐसा करना चाहिए) यह लक्ष्मीधर का मत है। पल्लवकार का कहना है कि राज्य में कोई गड़बड़ी न पैदा हो (इसलिए उन्हें ऐसा करना चाहिए)। राजनीति-ग्रन्थ में नारद ने कहा है--

ज्येष्ठो नरकनिस्तारो [4]लोकपूज्यतमः स्मृतः।
ज्येष्ठो रत्नाकरः प्रोक्तो राज्यार्हो ज्येष्ठ एव हि॥

ज्येष्ठ पुत्र नरक से उद्धार करता है; वह लोक में अत्यन्त आदरणीय समझा जाता है; वह (गुण रूप) रत्नों का आकार कहा गया है; (अत एव) वही राज्य का अधिकारी है—

---

१ राजमदत्त्वैवेति (ङ) पु० पाठोऽशुद्धः। २ (क) (ग)। ० धर्मसु। ३ नास्ति नारदीये धर्मशास्त्रे। ४ (ङ)। लोके।

राजनीतौ शुक्रः[1] ।

राजनीति-ग्रन्थ में शुक्राचार्य ने कहा है—

राज्यं पुरो विवाहं च सपिण्डीकरणं पितुः ।
गुणवत्सु कनिष्ठेषु ज्येष्ठ एव समर्हति ॥

गुणवान्-छोटे भाइयों के रहते बड़ा भाई ही राज्य, पहले विवाह तथा पिता का सपिण्डीकरण श्राद्ध करने का अधिकारी है ॥

इदं बार्हस्पत्यपद्मयोरपि ।

यह बात बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र और पद्मपुराण में भी आयी है ।

भागवते[2] ।

श्रीमद्भागवत में कहा है—

[3]शुमन्तुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्ता त्वमग्रभुक् ।
[4]राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥

ब्राह्मणों ने शुमन्तु से कहा कि तुम पहले ही भोग पाने वाले परिवेत्ता (वह छोटा भाई, जिसका विवाह ज्येष्ठ भ्राता का विवाह होने से पूर्व हो चुका हो) हो। (अतएव) नगर एवं राष्ट्र की उन्नति के लिए अपने बड़े भाई को राज्य शीघ्र दे दो ॥

तथा च राज्ययोग्ये ज्येष्ठे सति स एव राजा तदभावे कनिष्ठः, तदभावे राजवंश्यः । अत्र ज्येष्ठः पिता यस्य प्रथमं मुखं पश्यति स एव, तेन वैमात्रेयस्यापि संग्रहः । न विवाहसाहचर्यात्सोदरपरनियमः पितुः सपिण्डीकरणसाहचर्यात् अन्यथा रामायणे रामादीनुपलक्ष्य वसिष्ठादिवाक्यस्यालग्नतापत्तिः स्यात् । किञ्च 'स्थाप्यमानेष्वित्यादि'[5] युक्तिः समैव चेति तत्त्वम् । अत एव राज्यमविभाज्यमाह मनुः[6] ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि राज्य करने योग्य बड़े भाई के रहते वही राजा हो। उसके अभाव में छोटा भाई और उसके अभाव में राजवंश का कोई (उपयुक्त) व्यक्ति [राजा हो सकता है]। यहाँ ज्येष्ठ भाई

---

१ नास्ति मुद्रितशुक्रनीतौ । २ भाग० । ९ । २२ । १५ ।
३ भाग० । 'शन्तनुः' । ४ (घ) । राजन् ।
५ रा० । अयो० । ८ । २३ । ६ म० । ९ । २१६ । अतएव षडङ्गं राज्यमविभाज्यमाह मनुरिति (ङ) पाठः ।

वही लिया जायगा, जिसका मुख पिता पहले देखे। इससे वैमात्रेय भाई लिया जाएगा। 'राज्यं पुरो'—श्लोक में विवाह के साहचर्य से ज्येष्ठ भाई सहोदर ही लिया जाय, ऐसा नियम नहीं बना सकते, क्योंकि पिता के सपिण्डीकरण के साहचर्य से वैमात्रेय भाई भी लिया जाएगा (उसे भी श्राद्ध करने का अधिकार है)। अन्यथा रामायण में राम आदि को उपलक्ष्य करके वसिष्ठ आदि के कहे हुए (इक्ष्वाकूणाम्)-वचन असंगत हो जाएँगे (क्योंकि भरत आदि राम के वैमात्रेय भाई ही थे) और 'स्थाप्यमानेषु'—इत्यादि युक्ति भी समान रूप से वैमात्रेय भाई को सिद्ध करती है (यदि सहोदर भाई का ही नियम होता तो कैकेयी से उक्त वचन कैसे कहे जाते?)। इसी लिए मनु ने राज्य को न बाँटने योग्य बताया है—

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते॥

मुनियों ने वस्त्र, वाहन, आभूषण, बनाया हुआ अन्न, जल, स्त्रियाँ, मंत्री, पुरोहित आदि और सार्वजनिक मार्ग—इनको अविभाज्य कहा है (अर्थात् ये बाँटे नहीं जाते)॥

योगक्षेमं मन्त्रिपुरोहितादि[1]। केचित्तु नौकादि तन्न, 'योगक्षेमं स्मृतं राज्यमिति' कोषात्। राज्यमाह [तुः] मनुविष्णू[2]। स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषदण्डदुर्गराष्ट्रप्रकृतयः[3]। एतत्सप्ताङ्कं राज्यमुच्यते। सुहृत्पुरोहितः[4]। दण्डस्सेना याज्ञवल्क्यः[5]।

योगक्षेम = मंत्री, पुरोहित आदि। कोई इसका अर्थ नाव आदि करते हैं, सो उचित नहीं है; क्योंकि कोशों में 'योगक्षेम' का अर्थ राज्य है। मनु और विष्णु ने राज्य का यह लक्षण किया है—राजा, मंत्री, सुहृत, कोष (खजाना), दण्ड, दुर्ग और राष्ट्र—ये प्रकृति (राज्य-

---

१ योगक्षेमं यतो योगे क्षेमं भवति मन्त्रिपुरोहितामात्यवृद्धवास्तुचारादिभ्यस्ततो रक्षा भवति।' इति मेधातिथिः। 'योगो राजादिलभ्यो निबन्धादिः स्वयमुपात्तः क्षेमः। रक्षोपायः प्राकारेष्टकादिः'। इति सर्वज्ञनारायणः।

२ म० ।९।२९४। वि० ।३।३३। (घ) (ङ) योः। राज्यमाह मनुरिति पाठः।

३ ०राष्ट्राणि, प्रकृतय इति पठनीयम्। ४ इत्यसमीचीनम्। सुहृन्मित्रमिति। तादृगर्थस्याभावादर्थशास्त्रे। मित्रलक्षणं च द्रष्टव्यमर्थशास्त्रे। ५ या० ।१।३५३।

के मूल कारण) कहलाते हैं और इनसे युक्त राज्य सप्ताङ्ग कहा जाता है। सुहृत्=पुरोहित। दण्ड = सेना। याज्ञवल्क्य ने कहा है—

स्वाम्यमात्यो जनो दुर्गं कोषो दण्डस्तथैव च।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते॥

राजा, मंत्री (और पुरोहित आदि), प्रजावर्ग (अर्थात् राष्ट्र), दुर्ग, कोष, सेना और मित्र प्रकृति होते हैं; इन सब प्रकृतियों से युक्त राज्य सप्ताङ्ग कहा जाता है॥

जनः प्रजाः, मनुवचनैकवाक्यतया मित्राणि राष्ट्राणि[1]।

जन=प्रजा। मनु के वचन के साथ एकरूपता स्थापित करने के लिए यहाँ मित्र का अर्थ राष्ट्र करना चाहिए।

नारदः[2]।

नारद ने कहा है—

स्त्रीधनं च नरेन्द्राणां न कदापि च जीर्यति।

स्त्रीधन और राजधन (राज्य) कभी भी बाँटने योग्य नहीं हैं।

स्त्रीधनं सौदायिकं, नरेन्द्रधनं राज्यम्। कात्यायनः। 'निबन्धो यः क्रमागतः'। तथा च। धर्मशास्त्रेऽपि राज्यमविभाज्यमित्येवमर्थशास्त्रे ज्येष्ठ एव राजा भवेदित्युभयोरविरोधः। तर्हि लोकवृत्ताद्रा[3]जवृत्तस्य को भेद इति नैतत्।

स्त्रीधन = विवाह के अवसर पर माता-पिता तथा संबंधियों से कन्या को मिलने वाला धन, जिस पर विधानतः कन्या का अधिकार होता है। नरेन्द्रधन=राज्य। कात्यायन ने कहा है—'वंशपरम्परा से प्राप्त धन निबन्ध कहलाता है'। ऐसी स्थिति में धर्मशास्त्र के इस कथन में कि 'ज्येष्ठ पुत्र ही राजा हो' कोई विरोध नहीं रह जाता। तब सामान्य लोगों के आचरण से राजा के आचरण में कोई भेद नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

विकारं याति पुत्रोऽपि राज्यलोभाद्यथा पिता।
तल्लोकवृत्तान्नृपतेरन्यद् वृत्तं प्रचक्षते॥

---

१ प्रामादिकमेतत्। जनः राष्ट्रं, पुरं दुर्गमिति मनुवचनैकवाक्यता। २ ना० व्य०। ८३। ३ लोकवृत्तात्तस्य को भेद इति (ङ)।

राज्य के लोभ से पुत्र भी उसी तरह विकार को प्राप्त करता है जैसे उसका पिता। इसलिए ऋषियों ने राजा के आचरण को सामान्य जन के आचरण से भिन्न बताया है॥

इति शुक्रवचनेन[1] भेदप्रतीतेः।

इस शुक्राचार्य के वचन के अनुसार दोनों के आचरण में भेद प्रतीत होता है।

राजधने दीनानाथादिसकलप्राणिनामंशित्वं बहुनायकत्वाद्राज्यविनाशश्चेति युक्तिरिति गोपाल-लक्ष्मीधर श्री करादयः। अर्थप्रदीपे व्यासः।

राजा के धन में दीन, अनाथ आदि सभी प्राणियों का अंश रहता है और बहुत स्वामी होने से राज्य का विनाश भी होता है—यह गोपाल, लक्ष्मीधर, श्रीकर आदि आचार्यों का अभिमत है। अर्थप्रदीप नामक ग्रन्थ में व्यास ने कहा है—

पूर्वजन्मार्जितं पापमुपभोक्तुमिह व्रजेत्।
राज्ञो द्वितीयकः पुत्रस्तृतीयो[2]यदजासुतः॥
उत्पत्तिकालादारभ्य सदा तौ दुःखभागिनौ।

पूर्वजन्म का कमाया हुआ पाप (का फल) भोगने के लिए राजा का दूसरा पुत्र और बकरी का तीसरा पुत्र जन्म लेता है। (क्योंकि) ये दोनों जन्म-काल से लेकर सदा दुःख पाते हैं॥ (बकरी के दो ही स्तन होते हैं। यदि उसे तीन बच्चे पैदा हो जायँ तो तीसरे को दूध पीने का हिस्सा मिलना मुश्किल होगा। इसी तरह राजा का एक ही पुत्र राज्याधिकारी होगा दूसरे को तो राज्य से वंचित ही होना पड़ेगा।)

एतन्मूलक एव लोके तदुद्घोष इति। तथा च ज्येष्ठगामित्वमविभाज्यत्वं राज्यस्येति बुद्ध्वा पुरोहितादिनापि राज्यदानं कर्तव्यमिति प्रकरणार्थः।

इति श्रीचण्डेश्वरकृतोऽत्र पुरोहितादिकृतराज्यदानतरङ्गः।

---

१ नोपलभ्यते शुक्रनीतौ। २ तृतयः कामजः सुतः इति (ङ) पुस्तकपाठः प्रामादिकः।

इसी कारण (अर्थात् दूसरे पुत्र को राज्य न मिलने के कारण) लोक में ऐसा उद्घोष है (कि राजा का दूसरा पुत्र पाप फल भोगने के लिए जन्म लेता है)। अब राज्य ज्येष्ठ पुत्र को मिले तथा उसका बँटवारा न हो—यह समझकर पुरोहित आदि के द्वारा भी राज्यप्रदान (राज्याभिषेक) किया जा सकता है, यह इस प्रकरण का तात्पर्य है।

श्री चण्डेश्वर द्वारा रचित, पुरोहित आदि के द्वारा राज्यदान का किये जाने वाले निरूपण नामक तरंग यहां समाप्त हुआ।

षोडशस्तरङ्गः

अथाभिषेकः[1]

अब राज्याभिषेक का निरूपण किया जाता है—

राजनीतौ[2]।

राजनीति-ग्रन्थ में कहा है—

यौवराज्येऽथवा राज्ये यदि राजा विमत्सरः।
अभिषिच्य[3] विधानेन धर्मजं वीक्ष्य लक्षणम्॥
तत्सुतं तत्कनिष्ठादिक्रमात्कामजमात्मजम्।
सन्निकृष्टान्वयं चान्यं प्रजाविप्रानुमोदितम्॥

यदि राजा को मात्सर्य (दूसरे का उत्कर्ष देखकर जलना) न रहे तो वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को शुभ लक्षण से युक्त देखकर युवराज के पद पर अथवा राज्य पर विधिपूर्वक अभिषिक्त कर दे। ज्येष्ठ पुत्र के अभाव में उसके ज्येष्ठ पुत्र को, उसके अभाव में क्रमशः उसके कनिष्ठ पुत्र को, उसके अभाव में निकटवर्ती सन्तान को और उसके भी अभाव में किसी अन्य को प्रजा एवं ब्राह्मणों के अनुमोदन करने पर अभिषिक्त करे॥

युवराजेति वृद्ध[4] राजसापेक्षं वृद्धराजपरतन्त्र[5] इत्यर्थः। विमत्सरो विगत[6] राज्यमात्सर्यः, धर्मजं ज्येष्ठं, कामजं कनिष्ठं तथा च यदि राजलक्षणं ज्येष्ठे तदा ज्येष्ठमेव तदभावे[7] ज्येष्ठपुत्रस्य पुत्रत्वम्[8]।

'[9]तेऽपि ज्येष्ठाः स्वपुत्रेषु ज्येष्ठेष्वेव न संशयः'।

---

१ (ङ)। अथ राज्याभिषेकः। २ (ङ)। राजनीतिः।
३ (ख)(ग)(घ)(ङ) पुस्तकेषु। अभिषिञ्चेत। ४ (घ) (ङ)योः। वृद्धसापेक्षं।
५ (ङ) योः। वृद्धराजपरतन्त्रराज। ६ (घ) (ङ) योः। गतमात्सर्यः।
७ तदभावे ज्येष्ठ पुत्रस्येत्यारभ्य लक्ष्मीधर इत्यन्तः पाठः (ख) (ङ) पुस्तकयोर्नास्ति। ८ (घ)। ज्येष्ठमेवेति नास्ति। (घ)। पुत्रम्।
९ (घ)। तेऽपि ज्येष्ठा इत्यारभ्य वचनादित्यन्तः पाठो नास्ति।

इति वचनात् तदभावे यथाक्रमं कनिष्ठं तदभावे सन्निकृष्ट-सन्तानम् [1]सन्निकृष्टान्वयमिति । 'सन्निहितसम्बन्धिमात्र' मिति पल्लवः । 'तद्वंश्यमे' वेति लक्ष्मीधरः[2] । तदभावेऽन्यमप्यभिषिञ्चेत् । न[2] च पिण्डदातरि पुत्रे सति पौत्राभिषेकस्यान्याय्यत्वमतो नात्र क्रमादरः[3] । पुत्रपौत्रादौ पिण्डदातृत्वेनाविशेषात् अतएव पौत्रे समांशिताविधान[4]मिति । '[5]किञ्चात्मा वै जायते पुत्र' इति तत्स्वरूपत्वात्[6] वस्तुतस्तु राजवृत्तमन्यदि[7]ति युक्तिरेव बलवतीति[7] ।

'युवराज' यह वृद्ध राजा के सापेक्ष है अर्थात् वृद्ध राजा के पराधीन है। विमत्सर=राज्य के प्रति मात्सर्य से रहित। धर्मज=ज्येष्ठ पुत्र। कामज=कनिष्ठ पुत्र। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि ज्येष्ठ-पुत्र में राजा का लक्षण है तो उसी को राज्य देना चाहिए और उसके अभाव में उसके ज्येष्ठ पुत्र को देना चाहिए।

'वे ज्येष्ठ भी अपने ज्येष्ठ पुत्रों को ही राज्य दें, इसमें कोई संदेह नहीं'—

इस वचन के अनुरोध से ऐसा करना चाहिए। फिर उसके अभाव में क्रमशः कनिष्ठ को और उसके अभाव में निकटतरवर्ती सन्तान को राज्य देना चाहिए। 'सन्निकृष्टान्वयम्' का अर्थ पल्लवकार 'समीपवर्ती-सम्बन्धी मात्र' करते हैं। लक्ष्मीधर का कहना है कि जिसको राज्य-दिया जाय वह उसी वंश का होना चाहिए। यदि ऐसा भी न मिले तो किसी अन्य को अभिषिक्त करना चाहिए। आशंका होती है कि पिण्ड देने वाले पुत्र के रहते पौत्र का अभिषेक करना अनुचित है, इसलिए यहाँ क्रम का आदर नहीं करना चाहिए। इसका उत्तर है कि पिण्ड देने का अधिकार पुत्र और पौत्र को समान रूप से है। इसीलिए

---

१ (घ)। सन्निकृष्टान्वयमितीत्यारभ्य लक्ष्मीधर इत्यन्तः पाठो नास्ति। २ (घ) (ङ) योः। 'च' इति नास्ति। ३ (घ) (ङ) योः। 'क्रमादर इति तत्र'। ४ (घ) (ङ) योः। समांशिताविधानात्। ५ (घ) (ङ) योः। किञ्चेति पाठो नास्ति। ६ (ख) (घ) (ङ) पुस्तकेषु व्यवहितयोजनापत्तेश्चेत्यधिकः पाठ उपलभ्यते। ७ राजदानतरङ्गे (१४) उदाहृतम्। (घ) (ङ) योः। 'राजवृत्तमन्यदिति प्रागुक्तेः' इत्यधिकः पाठः।

पौत्र को समान भाग दिये जाने का विधान किया गया है। फिर 'आत्मा ही पुत्र होकर उत्पन्न होता है' इस श्रुति के प्रमाण से पौत्र भी पुत्र का स्वरूप ही है। वास्तविक बात तो यह है कि राजा का आचरण सामान्य जन के आचरण से भिन्न होता है—इस युक्ति को ही बलवान् समझकर उसके विषय में ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए।

[1]कृतनित्यक्रियो राजा स्वयं वास्य पुरोहितः।
शुक्ले वसानो वसने प्रविशेद्यज्ञमण्डपे॥
सौवर्णं स्थापयेत्तत्र कलशं दृढमग्रतः।
पूरयेत्सर्वतीर्थाद्भिर्गाङ्गेन पयसाऽथवा॥
वारुणेनाभिमन्त्र्यान्तः क्षिपेत्सर्वौषधीस्ततः।
पञ्चभिः पल्लवैश्छन्नमुखं वरुणमर्चयेत्॥
श्रियं विष्णुमुमामीशं गणग्रहदिगीश्वरान्।
पूजयेज्जुहुयान्मन्त्रैराज्येनैव सकृत्सकृत्॥
विसृज्य तान् सभामध्ये व्याघ्रचर्मोपरिस्थितम्।
सुहृद्विप्रवणिग्वीथीमन्त्रिसम्बन्धिसन्निधौ॥
अभिषिञ्चेच्छान्तिमन्त्रैः पल्लवानीततज्जलैः।
ततः सिंहासने राजा कुमारमुपवेशयेत्॥
स्रक्चन्दनपटोष्णीषमणिमुक्तादिभूषणैः।
चामरव्यजनच्छत्रपन्न[2]द्धीपादुकादिभिः॥
अलंकृत्य मुदा तस्मै षडङ्गं[3] राज्यमर्पयेत्।
पादाङ्गुष्ठेन तिलकं त्रिवारमलिके न्यसेत्॥
मूर्ध्नि दूर्वाक्षतं दद्याद्दधिलाजांश्च दर्शयेत्।
'अद्यारभ्य न मे राज्यं राजाऽयं रक्षतु प्रजाः'॥
इति सर्वं[4] प्रजाविष्णुं साक्षिणं[5] श्रावयेन्मुहुः।

[अभिषेक की विधि बताते हैं—] राजा स्वयं या उसका पुरोहित

---

१ तथाह। (घ) (ङ) योः। २ पनद्धी। (घ) (ङ) योः।
३ स्वामिसहितं सप्ताङ्गम्। अत्र षडङ्गं स्वामिव्यतिरिक्तम्।
४ 'सर्वान्' इति पुस्तकेषु। ५ (क) (ग)। 'साक्षिणः'।

शौचादि नित्य कर्म करने के उपरान्त उज्ज्वल वस्त्र धारण करके यज्ञ-मण्डप में प्रवेश कर। वहाँ सामने सोने का एक कलश स्थापित करे, जो हिलने-डुलने न पावे। उसे सब तीर्थों के जल से या गंगाजल से या दूध से भर दे। फिर वरुण के मंत्र से उसे अभिमंत्रित करके उसमें सब ओषधियाँ डाल दे। तब पाँच पल्लवों से उसके मुख को ढककर उस पर वरुण देव की पूजा करे। तदनन्तर लक्ष्मी, विष्णु, पार्वती, शंकर, गणेश, नवग्रह और (इन्द्र आदि दस) दिक्पालों का पूजन करे। फिर तत्तद् देवता के मंत्रों को पढ़ते हुए घी सेएक-एक बार हवन करे। हवन के बाद देवताओं का विसर्जन करके सभा के बीच मित्रों, ब्राह्मणों, बनियों, मन्त्रियों तथा सम्बन्धियों के समक्ष व्याघ्रचर्म पर बैठे हुए राजकुमार के ऊपर पल्लवों से कलसे का जल लेकर शान्ति मन्त्र पढ़ते हुए छिड़के। तदनन्तर राजा कुमार को राजसिंहासन पर बैठा दे। फिर माला, चन्दन, वस्त्र, पगड़ी, मणि, मोती आदि के आभूषण, चँवर, पंखा, छत्ता, जूता और खड़ाऊँ आदि से अलंकृत कर प्रसन्नतापूर्वक उसे (मंत्री आदि) छह अंगों वाला राज्य सौंप दे। तत्पश्चात् उनके ललाट पर पैर के अंगूठे से तीन बार तिलक लगाकर मस्तक पर दूर्वाक्षत दे। फिर दही और लावा दिखाकर साक्षी रूप जनता-जर्नादन को बार-बार सुनावे कि 'आजसे मेरा राज्य नहीं है, यह राजा प्रजाओं की रक्षा करे'॥

गाङ्गेन गङ्गाजलेन, पयसा गोक्षीरेण, गाङ्गेन पयसा गङ्गाजलेन, वा शब्दोऽत्र व्यवस्थितविभाषेति केचित्; वारुणेन वरुणेन मन्त्रेण, गणो गणपतिः, ग्रहपदेन नवग्रहाः, मन्त्रैस्तत्तद्देवतामन्त्रैः, 'सुरास्त्वामभिषिञ्चन्त्वि'त्यादिशान्तिमन्त्रैः, पल्लवानीततज्जलैः कलशमुखक्षिप्तपञ्चपल्लवजलैः, सिंहासनं (? ने) राजासनं (? ने) कुमारमित्यस्याभिषिञ्चेत् [इति] तात्पर्यं[1] पनद्धी[2] उपानत्, षडङ्गं मन्त्रिसुहृत्कोषदुर्गराष्ट्रबलात्मकम्, अलिके ललाटे, न्यसेद्दद्यादित्यर्थः, अद्येत्याद्यर्थं[3] श्रावयेत्।

गाङ्गेन = गंगाजल से। पयसा = गाय के दूध से। गाङ्गेन पयसा = गंगाजल से। यहाँ 'वा' शब्द व्यवस्थितविभाषा है, ऐसा कोई कहते हैं। [व्यवस्थितविभाषा का अर्थ है—कहीं उस वस्तु की प्रवृत्ति हो,

---

१ अभिषेचे तात्पर्यमिति (ख) (घ) (ङ) पुस्तकेषु पाठः।

२ पनद्ध्री। (घ) (ङ) योः।   ३ अर्थं। (घ) (ङ) योः।

कहीं न हो। अतएव यहाँ दोनों अर्थ कर सकते हैं—गंगाजल और दूध अथवा केवल गंगाजल।] वारुणेन = वरुण देवता के मन्त्र से। गणः—गणेश। ग्रहशब्द से (सूर्य, चन्द्रमा आदि) नौ ग्रह समझने चाहिए। मन्त्रैः = उस-उस देवता के मंत्रों से। 'सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु' इत्यादि शान्ति मन्त्र हैं। पल्लवानीतजलैः = कलश के मुँह पर रखे हुए पाँच पल्लवों से लिये हुए जल से। सिंहासने = राजगद्दी पर, कुमार को अभिषिक्त करे, यह तात्पर्य है। पन्नद्धी = जूता। षडङ्गं = मंत्री, मित्र, कोष, दुर्ग, राष्ट्र और सेना रूप। अलिके = ललाट पर। न्यसेत् = लगा दे। 'अद्य' इत्यादि आधा श्लोक सुनावे।

रामायणे[1]

रामायण में कहा है कि

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम्।
घृतं च दधिलाजांश्च[2] दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः॥
सूर्येऽभ्युदितमात्रे तु भविता पुण्यवाचनम्[3]।

कल प्रातः काल श्रेष्ठ ब्राह्मणों को सत्कारपूर्वक घी, दही, लावा और पर्याप्त दक्षिणा दे देना। सूर्य के उगते ही पुण्यवाचन (ब्राह्मणों द्वारा शुभ दिन का उच्चारण किया जाना) होगा।

अत्र ब्राह्मणेभ्यो घृतदधिलाजदानं पुण्यवाचनं चेति विशेषः। ब्राह्मणभोजनमप्यत्रैव 'ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्ता' मिति[4]। अस्य प्रयोगो मद्गुरुपद्धतौ। विस्तरोऽस्य[5] पल्लवे। 'अलंकृत्य मुदा तस्मै षडङ्गं राज्यमर्पयेत्। पादाङ्गुष्ठेन तिलकं त्रिवारमलिके न्यसे' दिति दृष्टार्थमन्यत्त्वदृष्टार्थम्। मनावभिषेकं विनापि राज्यदान-विधानात् तथा सम्प्रदायाच्च। कोषकारमते 'राज्यदानोपलक्षकं तिलकदानादि तेन तद्विनापि तद्भवत्येव श्वपुच्छन्याया' दिति। गोपालमते त्व 'भिषेकादिपर्यन्तमुपलक्षणं यथादेशकुलाचारं सिंहासनदानादि[6] तद्व्यवहारा' दिति। तथा चोक्तविधाने-

---

१ रा०। अयो०।३।१५-१६। २ (ख) (घ) (ङ)। रा०। ०लाजाश्च। ३ रा०। ०श्वो भविता स्वस्तिवाचनम्। ४ रा०। अयो०।३।१६। (घ) (ङ) योः। ब्राह्मणाश्चाप्यामन्त्र्यताम्। ५ विस्तारोऽस्य। (घ) (ङ) योः। ६ ० दानादिनापि। (घ) (ङ) योः।

नोत्तमः तिलकदानमात्रेण मध्यमः। अन्येनाप्यनुक्तप्रकारेणाधमकल्प इति। न चाधमकल्पानादर एव युक्त इति।

यहाँ (रामायण में) ब्राह्मणों को घी, दही और लावा देना तथा पुण्यवाचन कराना विशेष बात कही गई है। ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए—यह बात भी यहीं 'ब्राह्मणों को निमन्त्रण दो' इस कथन से सिद्ध होती है। इसका प्रयोग मेरे गुरु की लिखी हुई पद्धति में मिलता है। पल्लव नामक ग्रन्थ में इसका विस्तार से निरूपण किया गया है। (अभिषेक-सम्बन्धी उपर्युक्त श्लोकों में) 'अलंकृत्य'—से लेकर 'न्यसेत्' तक का अर्थ अन्यत्र भी मिलता है, किन्तु अन्य श्लोकों का अर्थ अन्यत्र नहीं मिलता है। मनुस्मृति में तो बिना अभिषेक के भी राज्य देने का विधान मिलता है। और सम्प्रदाय भी ऐसा कहता है। कोषकार के मत में तिलक लगाना आदि विषय राज्यदान का उपलक्षक है, अतएव जैसे बिना पूँछ के भी कुत्ता कुत्ता ही कहलाता है उसी तरह बिना तिलक के भी किया-गया राज्यदान राज्यदान ही कहलाएगा। गोपाल के मत में अभिषेक आदि उपलक्षण है। देशाचार और कुलाचार के अनुसार सिंहासन-दान आदि करना चाहिए; क्योंकि ऐसा व्यवहार है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त विधान से अभिषेक करना उत्तम है, केवल तिलक-लगाकर अभिषेक करना मध्यम है और दूसरे किसी ऐसे प्रकार से, जो शास्त्रों में न बताया गया हो, अभिषेक करना अधम पक्ष है। अधम पक्ष का सर्वथा अनादर ही किया जाय, यह ठीक नहीं है; क्योंकि—

जातिदेशकुलानां च ये धर्माः प्राक् प्रवर्तिताः।
तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथे—
त्यादिवचनात् व्यवहारस्य सर्वतो बलव[1]त्तरत्वाच्चेति।

जाति, देश, और कुल के जो धर्म पहले से चले आ रहे हों, उनका उसी तरह पालन करना चाहिए; अन्यथा प्रजा क्षुब्ध हो जाती है—इत्यादि वचन से व्यवहार को सबसे अधिक बलवान् माना गया है।

अथान्ये राजपुत्रा भर्तव्याः। नीतौ[2]।

---

१ सर्वतो बलवत्त्वाच्चेति। (ब)। २ कामन्दके।७।१।

इसके बाद (अभिषिक्त राजकुमार से) इतर जो राजकुमार हों उनका (भी) भरण-पोषण करना चाहिए। नीति-ग्रन्थ में कहा है—

प्रजात्मश्रेयसे राजा कुर्वीतात्मजरक्षणम्।

लोलुप्य[1]मानास्तेऽर्थेषु हन्युरेनमलक्षिताः ॥

राजा प्रजा के तथा अपने कल्याण के लिए पुत्रों का पालन-पोषण, करे, अन्यथा धन के अत्यन्त लोभी वे राजपुत्र छिपकर राजा को मार देंगे ॥

मनुः[2]।

मनु ने कहा है—

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम्।

नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत् ॥

पोषण करने योग्य जो वर्ग है (स्त्री, पुत्र आदि), उसका भरण करना स्वर्ग प्राप्त करने का उत्तम साधन है और उस वर्ग को कष्ट देने पर नरक होता है, अतएव यत्नपूर्वक उसका भरण करना चाहिए ॥

इत्युभयत्र भरण [म्] कारणम्। लोलुप्यमानास्तदुदयमर्थोपभोक्तार इति। रक्षणमत्र वशीकरणम्। नीतौ[3]।

दोनों जगह (इतर राजकुमारों का) भरण करना (कल्याण एवं स्वर्ग का) कारण है। लोलुप्यमानाः = अपने उदय के लिए धन का उपभोग करने वाले। रक्षणम्—यहाँ इसका अर्थ वश में करना है। नीति-ग्रन्थ में कहा है—

दुष्टं गजमिवोद्वृत्तं कुर्वीत सुखसेवनम्[4] ॥

राजपुत्रः परित्यागं सुदुर्वृत्तोऽपि नार्हति।

क्लिश्यमानः स्वपितरं परा[5] नाश्रित्य हन्ति हि ॥

मतवाले हाथी की तरह दुराचारी राजकुमार को (भी) सुखी रखना चाहिए, क्योंकि अत्यन्त दुराचारी भी राजकुमार परित्याग करने योग्य नहीं होता है। (परित्यक्त होने पर) दुःखी राजकुमार दूसरों का आश्रय लेकर अपने पिता को मार डालता है।

---

१ का०। लोलुभ्य०। २ नोपलभ्यते मानवधर्मशास्त्रे।

३ का०।७।६।७। ४ का०। 'सुखबन्धनम्' सुखसेविनं। (ङ)।

५ अ० का०। स पितरं 'परम्'। मै० का०। 'परान्'।

दुष्टगजं मत्तगजं सुखसेवनं सुखिनं सुखं तु राजकुलोचितं, परित्यागेऽर्थधर्मातिक्रमो लोकनिन्दापि स्यादतो न परित्यागमर्हतीत्यर्थः।

दुष्टगज = पागल हाथी। सुखसेवन = सुखी। यहाँ सुख का तात्पर्य है राजकुल के योग्य सुख से। उसके परित्याग करने पर अर्थ और धर्म का अतिक्रमण तथा लोक में निन्दा भी होगी, अतः उसका परित्याग नहीं करना चाहिए।

याज्ञवल्क्यः[2]।

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

दत्त्वा निबन्धनं भूमिं च[3] कृत्वा लेख्यं च कारयेत्।
आगामिभद्रनृपतेः[4] परिज्ञानाय पार्थिवः॥

राजा को (इतर राजकुमार को) निश्चित रकम और भूमि देकर भावी राजा के ज्ञान के लिए (ताम्रपत्र आदि पर) दी हुई वस्तु को लिखा देना चाहिए॥

निबन्धं नियतदेयम्, आगामिभद्रनृपतेः भाविभूपतेः पार्थिव इति भूपतिस्तस्यैव भूमिदानाधिकारः, सम्राजा दत्तनियतनिबन्धकस्य भोगपतेर्न भूमिदानाधिकारः पारतन्त्र्यात्। अतएव भूपतेरेव भूमिदानाधिकारो न तु भोगपतेरिति मिताक्षरा[5]। तथा च तेभ्योऽपि लिखित्वैव राजा दद्यादिति।

निबन्ध = निश्चित देयवस्तु। आगामिभद्रनृपतेः = भावी राजा के। पार्थिवः=राजा। राजा को ही भूमि देने का अधिकार है। सम्राट् द्वारा दिये गये नियत देय वाले जमींदार या छोटे राजा को भूमि देने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह परतन्त्र है। इसलिए याज्ञवल्क्य की टीका मिताक्षरा में लिखा हुआ है कि राजा को ही भूमि देने का अधिकार है, जमींदार को नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि उन्हें भी राजा लिख करके ही दे।

---

१ मतङ्गराजं। (घ) (ङ) योः। २ या० ।१।३१८।
३ या०। 'दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा'। ४ या०। ० नृपति०।
५ मि०। या०। १। ३१८।

अभिषिक्तः प्रथमं राष्ट्रमेव साधयेत् पश्चादङ्गानि, तदाह शुक्रः[1]।

राज्याभिषिक्त कुमार पहले राष्ट्र को ही वश में करे, पश्चात् राज्य के अंगों (मंत्री आदि) को करे। जैसा कि शुक्राचार्य ने कहा है—

राज्याङ्गानां च सर्वेषां राष्ट्राद् भवति संभवः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन राजा राष्ट्रं[2] प्रसाधयेत् ॥

सभी राज्यांगों (मंत्री आदि) की उत्पत्ति राष्ट्र से होती है। इसलिए राजा सब प्रकार के प्रयत्नों से राष्ट्र को वशीभूत करे ॥

प्रसाधयेद् व्यवहारदर्शनादिभिः, व्यवहारदर्शनं तु धर्मशास्त्रा-र्थशास्त्रयोरविरोधेन । तदाह नारदः[3] ।

प्रसाधयेत्—न्याय, कानून आदि से वश में करे। किन्तु न्याय आदि उसी हिसाब से करे, जिससे धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र (राजनीति) में किसी प्रकार का विरोध न उत्पन्न हो। नारद ने भी यही कहा है—

धर्मशास्त्रार्थशास्त्राभ्यामविरोधेन मार्गतः[4] ।
निरीक्ष्यमाणो निपुणो[5] व्यवहारगतिं नयेत् ॥

चतुर राजा धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध न उत्पन्न करने वाले मार्ग पर चलते हुए मुकदमे आदि की जाँच करे ॥

अतएव कात्यायनः ।

इसलिए कत्यायन ने कहा है—

'धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदै'—रिति । तथा च नृपस्यैतावत्यर्थकर्तव्य[6]तेति निबन्धाभिप्रायः ॥

धर्मशास्त्र का अर्थ लगाने में कुशल और अर्थशास्त्र में निष्णात—राजा का इतना राजनीतिक कर्तव्य है—यह दिखाना इस निबन्धात्मक ग्रन्थ का तात्पर्य है ॥

श्री चण्डेश्वरविरचिते राजनीतिरत्नाकरेऽभिषेकतरङ्गः ॥

श्री चण्डेश्वर के बनाये हुए राजनीतिरत्नाकर नामक ग्रन्थ में
राज्याभिषेक-निरूपण नामक तरंग समाप्त ॥

---

१ का० । ६ । ३ । नास्ति शुक्रनीतौ । २ अ० । का० 'समुन्नयेत्' । मै० का० । 'प्रसाधयेत्' । ३ ना० १ । ३७ । ४ ना० । 'यत्नतः' । ५ ना० । 'निपुणम्' । ६ कर्तव्येति । (घ) ।

श्रीचण्डेश्वरमन्त्रिणो मम वचो निर्मत्सरा[1]मत्सरं
दूरीकृत्य विचारयन्तु चतुरा निश्चित्य चेतश्चिरम् ।
मीमांसादिषु पद्धतिप्रभृतिषु व्याख्यासु धर्मार्थयो-
र्मान्या मञ्जुमनीषिणो महिभुजः सिद्धान्त[2]मन्त्राप्तये ॥

मात्सर्य से रहित, चतुर, मीमांसा आदि शास्त्रों तथा धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की व्याख्यारूप पद्धतियों आदि में विशेष गति वाले विलक्षण विद्वान् लोग राजा का सिद्धान्त और मन्त्रणा (अर्थात् राजनीति का गुर) मालूम करने के लिए ईर्ष्या को हटाकर एवं चित्त को स्थिर करके चिरकाल तक मुझ श्रीचण्डेश्वर मंत्री की बातों पर विचार करें ॥

मन्वादिस्मृति-राजनीति-जलधेरादाय संक्षेपतो
नानानीतिनिबन्धसम्मतमतं चित्वा चिराय श्रमात् ।
श्रीचण्डेश्वरमन्त्रिणा विरचितो रत्नाकरो भूभुजा
भाव्योऽसौ भुवि[3] भूतये भगवता मान्यो वदान्योदयात्[4] ॥

मनु आदि स्मृति-ग्रन्थों में प्रतिपादित राजनीतिरूप समुद्र से संक्षेप में लेकर अनेक नीति-निबन्धों के अनुकूल मतों को चिरकाल तक परिश्रमपूर्वक चुनकर श्रीचण्डेश्वर मंत्री द्वारा रचा हुआ यह राजनीतिरत्नाकर राजाओं द्वारा आदृत और उदार पुरुषों की उन्नति करने के कारण भगवान् को मान्य होकर पृथ्वी पर ऐश्वर्यवृद्धि करे ॥

समाप्तोऽयं राजनीतिरत्नाकरः ।

यह राजनीतिरत्नाकर ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

शुभं भूयात् ॥

---

१ निर्मत्सरं । (घ) (ङ) योः । २ सिद्धन्तु । (ङ) पाठोऽशुद्धः ।
३ सुविभूतये । (ङ) । ४ वदान्योदरात् । (घ) (ङ) योः ।

श्लोकानुक्रमणी